संत साहित्य

नये आयाम

डॉ० जयभगवान गोयल

मानववाद; सामाजिक न्याय; सेवा व श्रम का महत्त्व, संतों-दीनों-दलितों की रक्षा; शुभ-कर्मों में आस्था; अन्याय, अत्याचार, अधर्म का विरोध; दुष्टों के विनाश के लिए शौर्य-प्रदर्शन; भक्ति व शक्ति का समन्वय, गुरुओं एवं गुरुओं के परवर्ती गुरु-भक्त कवियों की काव्य-चेतना के विशिष्ट उल्लेखनीय आयाम हैं।

मध्ययुगीन साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् प्रोफेसर जयभगवान गोयल ने प्रस्तुत पुस्तक के मौलिक शोध-परक निबन्धों में इन आयामों को बड़ी विद्वत्ता व गम्भीरता से रेखांकित किया है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि मध्ययुगीन साहित्य के अनुशीलन को इनसे नई दृष्टि और दिशा मिलेगी।

—प्रकाशक

मानववाद; सामाजिक न्याय; सेवा व श्रम का महत्त्व, संतों-दीनों-दलितों की रक्षा; शुभ-कर्मों में आस्था; अन्याय, अत्याचार, अधर्म का विरोध; दुष्टों के विनाश के लिए शौर्य-प्रदर्शन; भक्ति व शक्ति का समन्वय, गुरुओं एवं गुरुओं के परवर्ती गुरु-भक्त कवियों की काव्य-चेतना के विशिष्ट उल्लेखनीय आयाम हैं।

मध्ययुगीन साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् प्रोफेसर जयभगवान गोयल ने प्रस्तुत पुस्तक के मौलिक शोध-परक निबन्धों में इन आयामों को बड़ी विद्वत्ता व गम्भीरता से रेखांकित किया है।

हमें पूर्ण विश्वास है कि मध्ययुगीन साहित्य के अनुशीलन को इनसे नई दृष्टि और दिशा मिलेगी।

—प्रकाशक

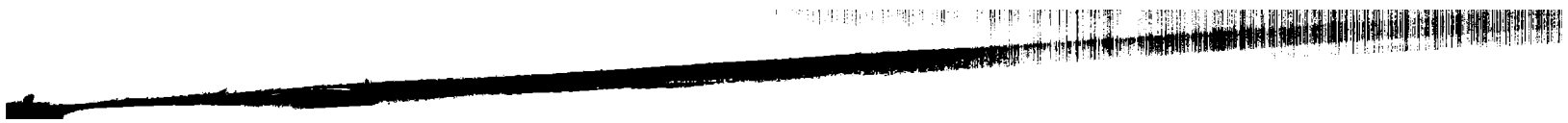

सन्त साहित्य : नये आयाम

सन्त साहित्य : नये आयाम

सन्त साहित्य : नये आयाम

(समीक्षात्मक निबन्ध)

डॉ० जयभगवान गोयल
प्रोफेसर हिन्दी विभाग, (सेवा-निवृत)
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय,
कुरुक्षेत्र

1992

आत्माराम एण्ड संस
दिल्ली लखनऊ

SANT SAHITYA : NAYE AYAM
by
Dr. Jai Bhagwan Goyal

प्रकाशक : आत्माराम एण्ड संस,
कश्मीरी गेट, दिल्ली-110006

शाखा : 17 अशोक मार्ग, लखनऊ

© : आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली-110006

ISBN No. 81 7043-215-4

प्रथम संस्करण : 1992

मूल्य : 50.00 रुपये

मुद्रक : रुचिका प्रिण्टर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

आमुख

मध्ययुगीन भारत का इतिहास राजनीतिक पराभव, सामाजिक अधःपतन, धार्मिक विकृतियों, नैतिक एवं मानवीय मूल्यों के ह्रास का काल था। लेकिन, भक्ति-आन्दोलन इसी युग की एक ऐसी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है, जिसके माध्यम से अनेकानेक दार्शनिकों, भक्तों एवं संतों ने तत्कालीन मानव-विरोधी प्रवृत्तियों का दृढ़तापूर्वक विरोध करते हुए, मानवीय मूल्यों पर आधारित नवीन सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक चेतना जागृत की, मानव-कल्याण के लिए एक मंगलमय अभियान का सूत्रपात किया; वर्ग और वर्ण पर आधारित मानवीय भेद-भाव व असमानता को समाप्त करके जीव-दया, प्रेम, समता, सद्भाव सहयोग, सन्तोष, सेवा, त्याग, स्वतन्त्रता आदि उदात्त मानवीय मूल्यों तथा संवेदनाओं को उद्दीप्त किया। राष्ट्रीय भावना और मानववादी-चेतना से युक्त यह एक ऐसा व्यापक आन्दोलन था, जिसका स्वर सारे देश में गूंज रहा था। उत्तर भारत में अनेक संत कवियों ने अपनी वाणी में इस चेतना को मुखरित किया और जन-साधारण में नई जागृति पैदा की।

इस सांस्कृतिक जागरण को उद्दीप्त और समृद्ध करने में मानवतावादी धर्म के पोषक गुरुओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। गुरु नानकदेव से लेकर दशम गुरु गोविंदसिंह तक के गुरुओं की वाणी में अद्भुत ताज़गी और तेजस्विता है। उन्होंने तत्युगीन सांस्कृतिक-सामाजिक विसंगतियों एवं विद्रूपताओं का निषेध करके सभी धर्मों, जातियों, वर्गों, वर्णों, देशों व मनुष्यों की एकता तथा समानता का प्रतिपादन किया और सामाजिक न्याय और मानवीय स्वतन्त्रता को महत्व दिया। अमानवीय आचरणों और पाप समूहों की निन्दा की, सात्विक व उदात्त आचरण पर बल दिया, 'गुरुमुख' और 'सिक्ख' की आदर्श मानव के रूप में परिकल्पना की। मानवीय समानता को स्थापित करने के लिए लंगर-प्रथा का शुभारंभ किया, हउमै के विनाश एवं विनम्रता के प्रवर्त्तन के लिए 'सेवा' को महत्व दिया। मानवीय स्वतन्त्रता, अस्थिरता और स्वाभिमान की रक्षा की; दीनों, दलितों, असहायों और संतों की रक्षा तथा दुष्टों, असुरों के विनाश एवं शुभकर्मों, सत्य व

न्याय की प्रतिष्ठा के लिए शांति, शौर्य, साहस व निर्भीकता का प्रदर्शन किया। भक्ति में शक्ति का सन्निवेश किया। मानववादी एवं मानवतावादी मूल्यों को प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया। ये इस साहित्य के कुछ ऐसे अछूते एवं अमूल्य प्रकरण हैं, जिनकी ओर बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है।

प्रस्तुत पुस्तक में संकलित निबन्धों में इस प्रकार के अनेक आयामों को उभारा गया है।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि संत-साहित्य के अनुशीलन को इस प्रयास से नयी दृष्टि और दिशा मिलेगी।

—डॉ० जयभगवान गोयल
कुरुक्षेत्र

विषय सूची

1. गुरुओं की वाणी : राष्ट्रीय एकता की वाणी 9
2. गुरुओं के जीवन पर आधारित प्रबन्धकाव्यों में मानवतावाद 17
3. श्री गुरु ग्रंथ साहब में संकलित भक्तवाणी के सन्दर्भ में—
   गुरु नानक और कबीर की समकालीनता और सम्बन्ध : कुछ प्रश्न 35
4. समाजवादी चेतना के प्रवर्तक : गुरु नानक देव 44
5. सिक्ख धर्म के प्रमुख स्तम्भ : गुरु अर्जुन देव 47
6. श्री गुरु तेग बहादुर : आज का सन्दर्भ 56
7. खालसा पंथ : साधना में शक्ति का प्रवर्त्तन 59
8. 'जापु' साहब : एक स्तोत्र-काव्य 66
9. संत योद्धा सिंहों की होली 74
10. सन्त रविदास का जीवन दर्शन 80
11. उदासी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक बाबा श्रीचंद जी और सिक्ख गुरु 89
12. सन्त कवि भाई सन्तोखसिंह की समन्वय भावना 97
13. हरियाणा का संत साहित्य : उपलब्धियां एवं सीमाएं 106

1

गुरुओं की वाणी : राष्ट्रीय एकता की वाणी

आज राष्ट्रीय एकता का प्रश्न हर देशभक्त के मन को मथ रहा है। वह चिन्तित है कि कोई तत्त्व हमारी इस एकता को खण्डित न करे। आखिर वे कौन-से तत्त्व हैं जो राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ बनाते हैं? ये तत्त्व हैं—राष्ट्र के प्रति भावात्मक संलग्नता, सामाजिक न्याय, आर्थिक समृद्धि, क्षेत्रीय समानता और धार्मिक सहिष्णुता आदि।

राष्ट्रीयता का संस्कृति से भी घनिष्ठतम भावात्मक सम्बन्ध है। हमारा देश विविध संस्कृतियों का देश है, जो कहीं धर्म से जुड़ी हुई हैं तो कहीं प्रदेश अथवा जाति-विशेष से। राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ करने के लिए यह भी अनिवार्य है कि इन संस्कृतियों के समान तत्त्वों का अन्वेषण एवं उद्‌घाटन करके उनमें सामंजस्य स्थापित किया जाये, क्योंकि बहुधा सत्ता की आकांक्षाएँ धर्म और संस्कृति का नाम लेने लगती हैं और तब देश में विघटन की प्रवृत्ति उभरने लगती है। इस सन्दर्भ में हिन्दुओं और सिक्खों की सांस्कृतिक एकता को उद्‌घाटित करके उनमें समन्वय स्थापित करने की महती आवश्यकता है।

भारत धर्म-प्रधान संस्कृति का देश है और यह संस्कृति एक विशाल वटवृक्ष के समान है, जिसकी जड़ें बहुत गहरी हैं। उसमें विविधता और व्यापकता है, किन्तु इस विविधता में भी एक आंतरिक एकता है। कालक्रम से उसमें अनेक धर्मों एवं मत-मतांतरों की शाखाओं, उपशाखाओं का विस्तार और विकास हुआ, और जितना इन शाखाओं ने विकास और प्रसार प्राप्त किया, जड़ें उतनी ही गहरी होती गयीं। सिखमत भारतीय संस्कृति में उसी विशाल वटवृक्ष की एक शाखा है।

हमारे देश में आध्यात्मिक चिन्तन और धार्मिक साधना की पूर्ण स्वतन्त्रता रही है। इसीलिए कई बार नितांत परस्पर-विरोधी विचारधाराओं का भी उन्मेष हुआ और वैचारिक स्तर पर उनमें संघर्ष भी हुआ। परन्तु, सहिष्णुता और सह-अस्तित्व की भावना को स्वीकार करते हुए समन्वय और संतुलन के भी प्रयास होते रहे। बाह्य धर्मों और संस्कृतियों का भी भारत में प्रवेश हुआ, जिन्हें धीरे-धीरे हमने आत्मसात् कर लिया।

अपने-अपने धर्म की सही पहचान

मध्ययुग विभिन्न धर्मों एवं मतों के द्वंद्व का युग था। उनमें बहुत-सी विसंगतियाँ और विकृतियाँ भी आ गयी थीं। सिखमत ने हिन्दू-धर्म में परिष्कार करके उसे ताज़गी और

तेजस्विता प्रदान की थी और भारतीय संस्कृति को पुनः जीवन्त, सशक्त एवं प्राणवान बनाने में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था।

सिखमत के संस्थापक गुरु नानकदेव एक महान संत, निष्ठावान साधक, क्रांति-दर्शी समाज-सुधारक, प्रगतिशील धर्मप्रवर्तक तथा मानवतावादी चिन्तक थे। उन्होंने देश-विदेश में घूम-घूमकर धर्म का प्रचार किया। प्रत्येक धर्म की अच्छाइयों और बुराइयों को देखा-परखा। उनकी अच्छाइयों की प्रशंसा की और विकृतियों की निन्दा। गुरु नानक अत्यंत सौम्य और शांत प्रकृति के महापुरुष थे। उन्होंने किसी भी धर्म अथवा सम्प्रदाय के प्रति कटुता प्रदर्शित नहीं की, वरन् बड़ी सहजता और कोमलता से लोगों का ध्यान उनकी साधना पद्धतियों की विसंगतियों की ओर आकृष्ट किया और उन्हें धर्म के वास्तविक रूप की पहचान दी। उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति को उसके निजी धर्म का सही स्वरूप बताने की कोशिश की। यदि कोई हिन्दू है तो वह एक अच्छा हिन्दू कैसे बन सकता है। कोई मुसलमान है तो वह एक अच्छा मुसलमान कैसे बन सकता है। सूफी एक अच्छा सूफी कैसे हो सकता है और योगी एक अच्छा योगी कैसे हो सकता है। धार्मिक ग्रंथ पढ़कर, सन्ध्या करके, मूर्तियों की पूजा करके, समाधि लगाकर, गले में माला डालकर और मस्तिष्क पर तिलक लगाकर अपने को पंडित कहने वालों को समझाते हुए उन्होंने कहा था कि ये सब फोकट कर्म है, ब्रह्म को जाननेवाला ही आदर्श ब्राह्मण है—

पड़ि पुस्तक संधिआ बादं। सिल पूजसि बगुल समाधं।
मुखि झूठ विभूखण सारं। गलि माला तिलक लिलाटं।
दुई धोती बसत्र कपाटं। जे जाणसि ब्रह्म करमं।
सभि फोकट निसचे करमं। (आसा की वार)
सो ब्राह्मणु जो ब्रह्मबीचारै। आपि तरै सगलै कुल तारै।

काबा, मस्जिद, नमाज और कुरान में आस्था रखने वाले मुसलमानों को समझाते हुए उन्होंने कहा कि "मेहर ही मस्जिद है, सिदक ही मुस्लिम है, शील ही रोजा है, हलाल का हक कुरान है, अच्छा कर्म ही काबा है, सत्य पीर है और भला करना ही कर्म है"—

मिहर मसीति सिदकु मुसला हकु हलालु कुरान।
सरम सुनति सीलरोजा होहु मुसलमान।। (माझ की वार)

एक श्रेष्ठ सूफी के गुणों का वर्णन करते हुए वे कहते हैं, "मन को परब्रह्म के चरणों में अनुरक्त कर देना ही लाल पोशाक है, सत्य और दान सफेद पोशाक है ध्यान बड़ा जामा है। संतोष ही कमरबंद और नाम ही धन और यौवन है"—

रता पैनण मन रता सुपेदी सतुदान।
नीली सिआही कदा करपी पहिरणु पैर धिआनु।
कमरबंद संतोख का धनु जोवन तेरा नाम।

इसी प्रकार योगियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था "कि शरीर में भस्म लगाकर, कान कटवाकर, किंथा धारण कर, हाथ में डण्डा पकड़कर अलख जगाना वास्तविक योग नहीं है"—

जोग न खिथा जोगु न डंडै जोग न भसम चडाइऐ।
जोगु न मुंदी मुँडि मुडाइए जोगु न सिंगी वाइऐ।
अंजन माहि निरंजनि रहीए जागु जुगतां इब पाइए।
गली जोगु न होई।

वरन् मन को जीतने से जग को जीता जा सकता है और जो समान दृष्टि से सबको देखता है, एक आदर्श योगी वही है :

आई पंथी सगल जमाती मन जीते जग जीतु।
एक द्रिष्ट करि समसरि जानै जोगी कहीए सोई॥

गुरु नानक ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "न कोई हिन्दू है, न कोई मुसलमान, सभी उस ईश्वर और अल्लाह के बन्दे हैं" :

अव्वल अलह नूर उपाइया कुदरत दे सब बन्दे।

दूसरो न भेद कोई

गुरु गोबिन्दसिंह के अनुसार अलग-अलग लोग, अलग-अलग ढंग से पूजा और उपासना करते हैं, लेकिन वे सभी उसी परमात्मा का रूप हैं, उनमें कोई भेद नहीं :

कहूँ हुइ के हिन्दुआ गाइत्री को गुपत जपिओ।
कहुँ हुई के तुरका पुकारे बाँग देत हो॥
कहुँ कोक काव हुइके पुराण को पढ़त मत,
कतहुँ कुरान को निदान जान लेत हो।
कहुँ वेद रीत कहुँ ता सिउं विपरीत,
कहुँ त्रिगुण अतीत कहूँ सुरगुन समेत हो॥
सर्वकाल सर्व ठउर एक से लगत हो॥

(अकाल उस्तुति 2 : 12)

उनका कहना है कि "सभी मनुष्यों के एक-से कान, नाक, आँख, शरीर हैं, सभी एक से तत्त्वों से बने हैं, फिर भेदभाव कैसा ? सभी मानव एक हैं—भेद भ्रम हैं। एक ही वह बनावट है, उसी का यह सारा प्रसार है, एक ही स्वरूप सब में व्याप्त है" :

हिन्दू तुरक कोऊ राफजी इमाम शाफी,
मानस की जात सबै एकै पहचानवो।
करता करीम सोई राजक रहीम ओई,
दूसरो न भेद कोई भूल भ्रम मानवो।
देहरा मसीत सोई पूजा औ निवाज ओई।
मानस सबै एक पै अनेक को भ्रमाउ है।
देवता अदैव जच्छ गन्धर्व तुरक हिन्दू,
न्यारे-न्यारे देसन के भेस को प्रभाउ है।
एकै नैन एकै कान एकै देह एकै बान,
खाक बाद आतश औ' आब को रलाउ है।

अल्लाह अभेख सोई पुरान और कुरान ओई।
एक ही सरूप सबै एक ही बनाउ है।
(अकाल उस्तुति, 15 : 85, 16 : 86)

गुरु नानक का ब्रह्म, 'निरभउ' और 'निरवैर' है :

१. ओंकार सतिनामु करता पुरख निरभउ निरवैर अकाल
मूरती अजूनी सैभं गुरु प्रसादि। (जपु जी)

उनका किसी भी देश के रहनेवाले, किसी भी धर्म के माननेवाले, किसी भी जाति से सम्बन्धित व्यक्ति से बैर-विरोध नहीं है क्योंकि वे स्वयं सृष्टि के कर्त्ता और कारण हैं :

करण कारण प्रभु एक है दूसर नाहीं कोई॥
(आदि ग्रंथ गउडी सुखमनी)

उसी विश्वरूप से सभी अभूत-भूत प्रकट होते हैं और उसी में समा जाते हैं। फिर किसी से भी बैर अथवा बिरोध कैसा ?

तैसे विश्वरूप ते अभूत भूत प्रगट होई।
ताही ते उपज सबै ताही मै समाहिगे॥

सिखमत मूलतः मानवतावादी धर्म है, गुरु नानक ने धर्म का मानवीय मनोवृत्तियों और आचरण से सम्बन्ध स्थापित किया और धर्म को जीवन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। वे मानवीय मनोवृत्तियों का परिष्कार करना चाहते थे, क्योंकि मानसिक कुवृत्तियों के कारण ही मनुष्य अधर्मी, पापी, हिंसक, क्रूर, स्वार्थी और अत्याचारी बनता है। इसलिए इन कुवृत्तियों की निन्दा करते हुए गुरु नानक कहते हैं कि लोभ कुत्ते के समान है, असत्य चूहे के समान है, ठगी करना मुर्दा खाने के समान है, परनिन्दा दूसरों का मल खाने के समान है और क्रोध चाण्डाल के समान है :

लबु कुत्ता कूड़ू चूहड़ा ठगि खाधा मुरदारु।
परनिंदा परमलु मुख सुधी अगनि क्रोध चंडाल॥

यही नहीं, उन्होंने यह भी कहा कि "दूसरों के हक को दबाना हिन्दुओं के लिए गाय के मांस के समान तथा मुसलमानों के लिए सूअर के मांस के समान हैं" :

हकु पराइआ नानका उसु सुअर उसु गाई।

गुरु नानक मनुष्य के भीतर की आत्मा को जगाकर उसके निजी सत्य का उद्घाटन करना चाहते थे। उसे अपनेपन का सही साक्षात्कार करवाकर धर्म के आदर्श मार्ग पर चलाना चाहते थे। अनासक्ति, संतोष, सत्य, करुणा, दया, सेवा, संयम, त्याग, सदाचार उनके लिए धर्म के मुख्य अंग थे। इन्हें धारण करना ही मनुष्य का वास्तविक धर्म है। वे मानव-धर्म के पोषक थे। यही मानवतावाद भारतीय संस्कृति का मूलभूत तत्त्व है। इस दृष्टि से हिन्दू-धर्म और सिखमत में अभिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

एक-सा आध्यात्मिक चिन्तन

आध्यात्मिक विचारों, सांस्कृतिक चिन्तन, सामाजिक व्यवस्था आदि की दृष्टि से भी सिखमत और हिन्दूधर्म में मूलभूत एकता और समानता है। गुरुओं के ब्रह्म सम्बन्धी

विचार अद्वैतवादियों के अनुरूप हैं। उन्होंने ब्रह्म को निर्गुण, निराकार, अलख, अगोचर, निरंजन, अभेद, अव्यक्त, सृष्टिकर्त्ता, अजन्मा, अकाल एवं सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान माना है तथा उसे दयालु, कृपालु, दाता, स्वामी कहकर उसकी भक्ति का निरूपण किया है। उनके ये विचार कबीर, दादू, सुन्दरदास, रैदास आदि सभी भक्तों-सन्तों के विचारों से मेल खाते हैं। उन्हीं के अनुसार गुरुओं ने भी ब्रह्म का स्मरण हरि, गोविन्द, राम, नारायण, मुरारी, कनाई, माधव आदि नामों से किया है। ब्रह्म का निरूपण उन्होंने उपनिषदों में प्रतिपादित 'एकोऽहं बहुस्याम्' के रूप में भी किया है और 'नेति नेति' तथा 'तत्वमसि' के रूप में भी। गुरु गोबिन्दसिंह ने भी एक ओर तो उसे 'नेति नेति' और 'बिअंत बिअंत' (अकाल उस्तुति, 219) कहा है, तो दूसरी ओर उसका 'तुही तुही, तुही तुहीं, तुहीं तुहीं, तुहीं तुहीं (अकाल उस्तुति, 69); जले हरि थले हरि···के रूप में निरूपण किया है।

औपनिषद अध्यात्म-परम्परा में ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध को कनक-कुण्डल, नदी-तरंग, जल-लहर, अग्नि-स्फुलिंग, धूली-कण आदि के सम्बन्धों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। गुरुओं ने भी जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध का निरूपण इसी प्रकार किया है। 'गुरु ग्रंथ साहब' में आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा गया है :

जल ते उठहि अनिक तरंगा, कनिक भूखन कीने बहु रंगा।
बीज बीज देखिउ बहु परकारा, फाके पाके ते एकैकारा।
(सूही महला, 5)

गुरु गोविन्दसिंह भी आत्मा को परमात्मा का ही रूप मानते हुए लिखते हैं :

जैसे एक आग ते कनूका कोट आग उठे,
निआरे निआरे हुई के फेरि आग में मिलाहिगे।
जैसे एक धूर ते अनेक धूर पूरत है,
धूर के कनूका फेर धूम ही समाहगे।
जैसे एक नद ते तरंग कोट उपजत है
पानि के तरंग सबै पानि ही कहाहिगे।
तैसे विश्वरूप ते अभूतभूत प्रगट होइ,
ताही ते उपज सबै ताही में समाहिंगे। (अकाल उस्तुति)

'श्रीमद् भगवद् गीता' में आत्मा को 'सत चित्त आनन्द' स्वरूप मानकर उसके स्वरूप का वर्णन इसी प्रकार किया गया है :

ना जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजोनित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते न हन्यमाने शरीरे।
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृहणाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।
नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। (गीता)

'गुरुग्रंथसाहब' में आत्मा का जो स्वरूप वर्णित है, वह 'गीता' के अनुरूप है। देखिए :

ना ओहु मरता ना हम डरिआ।
ना ओहु बिनसै ना हम कडिआ।
ना ओहु निरधनु ना हम भूखे।
ना ओसु दुखूं ना हमकउ दूखें।
ना उसु बंधन ना हम बाँधे।
ना उसु धंधा न हम धांधै।
ना उसु मैलु ना हम कउ मैला।
ओसु अनन्दुत हम सद केला। (4:32:83: आसा 5)

गुरु गोबिन्दसिंह ने 'गीता' के ही शब्दों में आत्मा के स्वरूप का वर्णन किया है। वे लिखते हैं :

आत्मा सति अकाल है तिस का नाही नास।
देहि जु द्रिशटि आव है सो है सही विनास।
आत्म सदा अद्वैत है अकल अनीह अनूप है।
जैसे बसतर होइ पुराना।
डार दीआ तब नवां उठाना।
तिसी भाँति आतम देहि डारे।
और देहि लेवे सुन पिआरे।
आयुध करि काटिआ नहीं जाइ।
ताँको अगनि न सके जलाई।
डूबे नाही जल के माँही।
मारू तिसै सकावै नाहीं।

सिखधर्म के प्रसिद्ध व्याख्याता भाई गुरुदास तथा सिख-इतिहास के महान कवि भाई संतोखसिंह आदि ने भी ब्रह्म एवं जीव के स्वरूप और सम्बन्धों का निरूपण इसी प्रकार किया है।

जगत, शरीर, आवागमन, कर्मफल तथा मुक्ति आदि के सम्बन्ध में भी गुरुओं के विचारों की हिन्दुओं के परम्परागत आध्यात्मिक विचारों से पूर्ण समानता है।

अवतारवाद में यद्यपि सिखमत का विश्वास नहीं है, लेकिन गुरुओं ने विभिन्न पौराणिक कथाओं का निष्ठापूर्वक उपयोग किया है और परवर्ती सिक्ख कवियों ने तो गुरुओं को भी अवतारी रूप में प्रस्तुत किया है। स्वयं गुरु गोबिन्दसिंह ने विभिन्न अवतार-कथाओं का तथा चण्डी आदि के चरित्र का विस्तार से वर्णन किया है। इन अवतार-कथाओं में 'रामावतार' एवं 'कृष्णावतार' उल्लेखनीय हैं।

इसके अतिरिक्त 'गुरुग्रंथसाहब' तथा 'दशमग्रंथ' का सारा सांस्कृतिक परिवेश,

सामाजिक तथा पारिवारिक आदर्श हिन्दू संस्कृति के ही समान्तर है। कहीं भी कोई अंतर दिखाई नहीं पड़ता। दोनों एक ही तो हैं। भेद है ही कहाँ ? सिखधर्म का सम्पूर्ण साहित्य इस बात का साक्षी है कि हिन्दू और सिक्ख एक ही धर्म और एक ही संस्कृति के अभिन्न अंग हैं।

इस सन्दर्भ में दस गुरुओं के जीवन पर आधारित भाई सन्तोखसिंह की अमर कृति 'गुरुप्रतापसूरज' का उल्लेख करना उचित होगा। यह 60,000 छन्दों का एक विशाल महाकाव्य है जिसे सिक्ख इतिहास, संस्कृति, धर्म और दर्शन का विश्वकोष कहा जाता है। इस ग्रंथ में भी सिखमत और हिन्दूधर्म का समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयास किया गया है। इसमें गुरुओं की चरित्र-कथा का निष्ठापूर्वक वर्णन किया गया है, किन्तु साथ में हिन्दुओं की पौराणिक कथाओं का भी विशदता से उपयोग किया गया है। इसमें सिखमत के आध्यात्मिक विचारों का प्रतिपादन किया गया है, तथापि वैष्णव मत का भी इस पर प्रचुर प्रभाव है। एक स्थान पर तो यहाँ तक कहा गया है कि गुरु गोबिन्दसिंह ने अपनी मथुरा-वृन्दावन की यात्राओं में उन सभी स्थानों को देखा, जहाँ उन्होंने कृष्ण-रूप में स्वयं अनेक लीलाएँ की थीं। गुरु गोबिन्दसिंह तथा गुरु हरगोविन्द की बाल-लीलाएँ भी कृष्ण-लीला के समान हैं। इस ग्रंथ में ब्रह्मा, विष्णु और महेश आदि का श्रद्धापूर्वक चित्रण किया गया है और गुरु नानक के जन्म और मृत्यु के समय उन्हें उनके पास आते दिखाया गया है। इससे भी भाई सन्तोखसिंह ने यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि हिन्दुओं और सिखों में कोई भेद नहीं है। दोनों की परम्पराएँ और विश्वास एक हैं। दोनों की संस्कृति और समाज एक हैं। दोनों के इष्टदेव और पूर्वज एक हैं। वस्तुतः, यह रचना हिन्दुओं और सिक्खों के सांस्कृतिक समन्वय, मानवतावादी दृष्टिकोण और राष्ट्रीय एकता की भावना की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्व की है। गुरु गोबिंदसिंह ने 'बचित्रनाटक' में अपने कुल (सोढी वंश) का राम के सूर्यवंश से (लव-कुश से) सम्बन्ध स्थापित किया है। इस ग्रंथ में भी एक ओर गुरु नानक के माता-पिता को अदिति और कश्यप का अवतार माना गया है तथा सभा में विराजमान गुरुओं को दशरथ, राम, सुरपति, विष्णु आदि के रूप में तथा माताओं को कौशल्या या यशोदा के रूप में चित्रित किया गया है, तो दूसरी ओर इसमें गुरुओं को 'हिन्द की चादर', 'हिन्दू धर्म के रक्षक', 'हिन्दू धर्म के आसरो' एवं 'हिन्दुओं के प्रतिपालक' कहा गया है :

"हिंदू धरम रखहिं जग माही,
तुमरे करे विनस है नाही।"
"हिंदू धरम जग लियो बचाई,
सभि सुरगन की कीनि सहाई।"
"हिंदू धरम के आसरा तुरकन्न तेज बिसाल।
श्री गुरु गोबिन्द जी नमो चरण के पास।"
"हिंदू लाज राखी वन चादरा।"

गुरु गोबिन्दसिंह के कुछ दरबारी कवियों ने भी उन्हें 'हिन्दू धर्म के रक्षक' अथवा 'हिन्दूपति सुलतान' कहकर उनकी प्रशंसा की थी। वस्तुतः, इसमें कोई सन्देह नहीं है कि विकट संकट की स्थिति में गुरुओं ने हिन्दू-धर्म की रक्षा की थी और सन्त्रस्त और असहाय हिन्दुओं में नयी शक्ति और पौरुष का संचार किया था। सम्भवतः इसीलिए भाई सन्तोखसिंह ने लिखा है कि जो हिन्दू होकर भी गुरुओं का उपकार नहीं मानता, वह पापी एवं कृतघ्न है, यथा :

जे जग में तन हिंदू अहै,
सभि पै उपकार विसाल कर्यो।
मानहि जे न अधी नही को सम
जाई निरैपद बीच पर्यो।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने इन परम्परागत सम्बन्धों को पहचानें और अलगाव और तनाव की जो स्थिति पैदा हो रही है, उसे दूर करें तथा अपनी राष्ट्रीय एकता को बनाये रखें।

हमारी सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय एकता को दृढ़ करने के लिए सिक्ख साहित्य का अनुशीलन भी उपयोगी हो सकता है।

▭▭

2

गुरुओं के जीवन पर आधारित प्रबन्ध काव्यों में मानवतावाद

यद्यपि सृष्टि की समस्त विभूतियों में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है (न मनुष्यात् श्रेष्ठतरहि किंचित्), तथापि आधुनिक मानव ने अपने स्वार्थ से इस 'स्वर्ग' सी सृष्टि को 'नरक' बना दिया है। मनुष्य और मनुष्य के बीच निरन्तर बढ़ती जा रही दूरियों के कारण 'नर में नारायणत्व' की संकल्पना लुप्त होती जा रही है। निःसन्देह जब मानव अपने बुनियादी आदर्शों और मूल्यों को त्याग देगा, तब वह विद्या, तप, ज्ञान, शील एवं अन्य गुणों से रहित 'मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति' से भिन्न नहीं रह जायेगा। मनुष्य को उसकी इस दयनीय स्थिति से उबारकर मानवीय प्रेम, समता, सहयोग, स्वतन्त्रता, मानव-कल्याण के धरातल पर मानव और मानव के बीच की असमानता, विषमता, जटिलता और दूरी को मिटाने का जो प्रयास है, वही 'मानववाद' एवं 'मानवतावाद' का सर्वप्रथम एवं मुख्य सरोकार है।

'मानववाद' मानव-केन्द्रित मानव-कल्याणकारी मानवता का पक्षधर ऐसा सिद्धांत है, जिसमें मानव की स्वतन्त्रता, गरिमा और महिमा का प्रतिपादन किया जाता है और मैत्री, बन्धुत्व, मानवीय स्वतंत्रता, मानवीय मूल्यों और मानव-हितों पर आधारित उदात्त मानव-संस्कृति की स्थापना की जाती है। 'नवमानववाद' मानव की उपासना के स्थान पर मानवीय व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा एवं अधिकारों को वास्तविक सम्मान देता है और मानव-समुदाय के सामूहिक हित, मंगलकारी सामाजिक व्यवस्था एवं स्वस्थ जीवन-संरचना के संघटन में सहायक होता है। मानववाद के विभिन्न रूपों के विकास के कारणों और व्यावहारिक उपयोग को लेकर चाहे जितनी चिल्ल-पौं होती रही हो, लेकिन इतना सुनिश्चित है कि इन सभी के मूल में, सैद्धान्तिक स्तर पर, मानव-मंगल की भावना ही निहित है।

'मानववाद' (Humanism) और 'मानवतावाद' (Humanitarianism), इन दोनों प्रत्ययों के स्वरूप एवं अन्तर को लेकर काफी विवाद रहा है और यहाँ तक कहा गया है कि 'मानववाद' एक सुचिन्तित दर्शन है जबकि 'मानवतावाद' का अपना कोई महत्त्वपूर्ण स्वरूप निर्धारित नहीं हो सका है; लेकिन अब यह धारणा निर्मूल हो चुकी है। वास्तविकता यह है कि मानवतावाद मानववाद से अधिक व्यापक है, क्योंकि यह मानव-हित

की सीमाओं से आगे बढ़कर प्राणी-मात्र के प्रति प्रेम, दया एवं करुणा के भाव को उजागर करता है।

भारतीय चिन्तन-परम्परा में मानववाद की वैज्ञानिक मीमांसा भले ही उपलब्ध न हो, लेकिन मानववाद और मानवतावाद प्राचीन भारतीय संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण एवं मूलभूत तत्त्व रहा है। वैदिक वाङ्मय में मानववाद और मानवतावाद की मूल चेतना को उद्भासित तथा प्रतिबिम्बित करनेवाले असंख्य उदाहरण उपलब्ध हैं।

मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन भारतीय इतिहास की एक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना है, जिसके माध्यम से मानववादी चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति हुई है। शंकराचार्य, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, चैतन्य, रामानन्द, कबीर, नानक, सूर, तुलसी, जायसी, गुरु तेगबहादुर, गुरु गोबिन्दसिंह, रैदास, दादू, मीरा, रसखान आदि-आदि अनेकानेक दार्शनिकों, भक्तों और सन्तों ने तत्कालीन मानव-विरोधी प्रवृत्तियों का डटकर विरोध किया और शताब्दियों से आक्रान्त, शोषित, दलित एवं उपेक्षित वर्ग को नवीन मानवीय मूल्यों पर आधारित नवीन चेतना प्रदान की, मानव-कल्याण के एक मंगलमय अभियान का सूत्रपात किया, वर्ग और वर्ग पर आधारित मानवीय भेद-भाव व असमानता को समाप्त करके जीव-दया, प्रेम, समता, सद्भाव, सहयोग, सहिष्णुता, स्वतन्त्रता आदि उदार-उदात्त मानवीय भावनाओं पर आधारित मानवीय समानता एवं एकता का जय-घोष किया। इसीलिए यह आन्दोलन मात्र भक्ति-आन्दोलन नहीं रहा, वरन् मानवतावादी चेतना से युक्त एक जन-आन्दोलन बन गया।

सिखमत भारतीय संस्कृति रूपी विशाल वट-वृक्ष की ही एक शाखा है। यही कारण है कि सभी गुरु मानववादी धर्म के पोषक थे और मानवतावाद गुरु-वाणी का मुख्य स्वर है। प्रथम गुरु नानकदेव से लेकर अन्तिम गुरु गोबिन्दसिंह तक की काव्य-यात्रा साक्षी है कि तत्कालीन युग में हिन्दू-धर्म में जो विकृतियाँ-विसंगतियाँ आ गयी थीं, सिख-मत ने उनका निषेध करके उसे ताजगी और तेजस्विता प्रदान की तथा सभी धर्मों, जातियों, वर्गों, वर्णों, देशों और मनुष्यों की एकता-समानता का प्रतिपादन किया।

गुरुओं ने उत्तर भारत के सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन में क्रान्तिकारी नवीन चेतना जागृत की तथा विदेशी आक्रमणकारियों और तत्कालीन यवन शासकों के आतंक और अत्याचारों से पीड़ित हिन्दू जनता में साहस, निर्भयता एवं शक्ति का संचार किया और उन्हें अपने स्वाभिमान, स्वतन्त्रता एवं अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा दी।

गुरुओं ने जनसाधारण में जो चेतना जागृत की थी, इसका प्रभाव गुरुओं के समय में तथा उसके पश्चात् काफी समय तक बना रहा। धर्म, सत्य और न्याय की रक्षार्थ गुरु गोबिन्दसिंह ने 'खालसा' पंथ की स्थापना की, जिसका लक्ष्य था "मुख में हरिनाम और चित्त में (धर्म) युद्ध का चिन्तन"। शुभ-कर्मों में दृढ़ आस्था रखते हुए, आध्यात्मिक जीवन जीते हुए, सन्तों और दीनों की रक्षा के लिए तथा दुष्टों और अत्याचारियों के विनाश के लिए निरन्तर युद्ध करना। मानवीय अधिकारों और धार्मिक स्वतन्त्रता के इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए गुरु तेगबहादुर ने अपना बलिदान दिया और "भय काहू कउ देति नहि,

नहिं भय मानति आनि" के सिद्धान्त की स्थापना की। उन्होंने अपना शीश न्योछावर कर दिया, किन्तु अपना प्रण (धार्मिक आचरण की स्वतन्त्रता में आस्था) नहीं छोड़ा। (सिर दिया, सिरर न दिया)। गुरु गोबिन्दसिंह ने भी इन्हीं सिद्धान्तों और मानवीय मूल्यों की रक्षार्थ आजीवन युद्ध करते हुए अपने पुत्रों तक को न्योछावर कर दिया।

निःसन्देह, गुरुओं ने सत्धर्म, सत्य निष्ठा, साहस और संघर्ष की जो ज्योति प्रज्ज्वलित की थी, उसका प्रकाश कोटि-कोटि जन-मानस को शताब्दियों तक देदीप्यमान करता रहा। उसी आलोक से प्रेरणा ग्रहण करके उनके निष्ठावान अनुयायियों ने उनके जीवन पर आधारित बहुत-सी साखियों एवं काव्य-कृतियों की रचना की, जिनमें गुरुओं के गौरवमय चरित्र एवं मानवतावादी मूल्यों का व्याख्यान विस्तार से किया गया है।

1. 'बचित्र नाटक' : गुरु गोबिन्दसिंह

गुरुओं के जीवन पर आधारित प्रथम महत्त्वपूर्ण कथात्मक काव्य-कृति है 'बचित्र नाटक' (अपनी कथा) जिसके रचयिता स्वयं दशम गुरु गोबिन्दसिंह जी हैं। यह साहित्यिक दृष्टि से भी एक यशस्वी सन्त-योद्धा कवि द्वारा रचित पद्यात्मक विलक्षण 'वीररसात्मक आत्म-कथा' है। इसमें गुरु गोबिन्दसिंह ने अपने जीवन के प्रमुख युद्धों का ओजस्वी शैली में वर्णन किया है और साथ ही उनकी वंश-परम्परा, उनके अवतरित होने के उद्देश्य, अध्यात्म-चिन्तन, धर्म प्रतिष्ठापन; अकाल पुरुष की प्रतिष्ठा, युग का चित्रण तथा समाज के अभ्युत्थान एवं दुष्ट-विदारण आदि का भी वर्णन किया गया है, जिससे उनके सन्त-योद्धा रूप की सार्थकता भी प्रतिष्ठित हो जाती है कि उन्होंने युद्ध क्यों किये, किस महत् उद्देश्य से किये।

गुरु जी ने अपने युग के सभी प्रमुख पंथों, सम्प्रदायों, मत-मतान्तरों और उनकी भ्रान्त, मिथ्या तथा पाखण्डपूर्ण साधनाओं, आचरण और मान्यताओं का निरूपण किया। उनका कथन है कि सभी धर्म अपने को श्रेष्ठ तथा दूसरों को हीन समझते थे। वे परस्पर कलह और मिथ्याचारों में फँसे हुए थे। धर्म के वास्तविक मानवीय स्वरूप का ह्रास हो रहा था। यवन शासकों की धार्मिक कट्टरता और संकुचितता के कारण भारतीय जनता संत्रस्त थी। पाप और अत्याचार का प्रतिकार करने का उनमें साहस नहीं था। गुरु जी ने इस रचना में इसका खुलकर वर्णन किया और घोषणा की कि उनका आगमन मानव-धर्म के विरोधी ऐसे दुष्टों के विनाश और सत्य और धर्म एवं मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए ही हुआ है और इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए स्वयं अकाल पुरुष ने उन्हें यहाँ भेजा है। उन्होंने कहा कि :

हम इह काज जगत मो आए।
धरम हेत गुरुदेव पठाए।
जहाँ-तहाँ तुम धरम बिधारो।
दुसट दोखिअनि पकरि पछारो। 42।
याही काज धरा हम जनमं।
समझ लेहु साधु सब मनमं।

धर्म चलावन संत उबारन।
दुसट सबन को मूल उपारन। 43।
जाइ तहाँ तै धरम चलाई।
कुबुद्धि करन ते लोक हटाई।

नि:सन्देह, यहाँ 'धर्म' से अभिप्राय 'मानव-धर्म' से है और सन्तों से अभिप्राय उन व्यक्तियों से है जो मानवतावादी धर्म का पालन करते हैं। गुरु जी का कथन है कि वे इसी मानवीय धर्म की प्रतिष्ठा एवं मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए अवतरित हुए हैं। 'दुष्ट दोखिअन' तथा 'कुबुधि करन' से इनका अभिप्राय उन व्यक्तियों और कृत्यों से है जो मानव-धर्म के प्रतिकूल हैं और मानववाद तथा मानवतावाद के प्रसार में बाधक हैं। ऐसे मानव-विरोधी आचरण को उन्होंने 'फोकट धर्म', 'कुकर्म', 'डिम्भ' तथा 'स्वांग' की संज्ञा दी है (6/49, 53, 54, 55, 56) जिनमें कोई सार नहीं है, और वे मानव का कोई हित नहीं कर सकते। ऐसे मानव अहितकारी सभी धर्मों का वे डटकर खंडन करते हैं और ऐसे लोगों को फटकारते हैं, जो इस तरह के मिथ्यात्व और पाखंडों से लोगों को ठगते हैं, उनका शोषण करते हैं। उनका कहना है कि ऐसे लोगों के लिए नरक के अतिरिक्त और कहीं ठिकाना नहीं है। (6/58) उन्होंने यह भी संकेत किया कि जब राज-काज उनके हाथ में आया तो उन्होंने यथाशक्ति (मानव) 'धर्म' का प्रवर्त्तन किया—

राज साज हम पर जब आओ।
यथा सक्ति तब धर्म चलायो। (7/1)

सम्पूर्ण 'बचित्र नाटक' (अपनी कथा) अमानवीय शक्तियों के विरुद्ध संघर्ष और मानवतावादी मूल्यों की प्रतिष्ठा की कथा है। मानवीय समानता और एकता में अपना विश्वास प्रकट करते हुए गुरु जी कहते हैं :

हरि हरिजन दुई एक है बिब विचार कछु नाहिं।
जल ते उपज तरंग जिउ जल ही बिखै समाहि। (6/60)

2. 'गुरु-शोभा' : सेनापति

गुरुओं के जीवन पर आधारित दूसरी प्रबन्धात्मक कृति सेनापति कृत 'गुरु-शोभा' है। यह गुरु गोबिन्दसिंह के जीवन पर आधारित एक वीर-रसात्मक रचना है। सेनापति दशम गुरु के दरबार के सम्मानित कवि थे और उनके समकालीन थे, इसलिए इस कृति का ऐतिहासिक दृष्टि से भी कम महत्त्व नहीं है। सेनापति की गुरु जी के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं भक्ति थी और इसीलिए बड़ी श्रद्धा से उसने गुरु जी के चरित्र एवं सिद्धान्तों का वर्णन किया है।

'गुरु-शोभा' (रचनाकाल सं० 1758) 20 अध्यायों की रचना है, जिसमें कुल 936 छंद हैं। 6-7 अध्यायों में सिखमत के धार्मिक सिद्धान्तों, ब्रह्म के स्वरूप, जगत आदि के स्वरूप एवं सिखमत की साधना-पद्धति, नाम-स्मरण, सत्संगति, सेवा, गुरु की

महिमा, खालसा के स्वरूप एवं आदर्शों आदि का वर्णन किया गया है। 6-7 अध्यायों में, लगभग 360 छन्दों में गुरु गोबिन्दसिंह के विविध युद्धों का ओजस्वी शैली में वर्णन किया गया है और शेष में सामान्य-कथांशों का निरूपण हुआ है। इस तरह इस कृति में आध्यात्मिकता, धार्मिक भावना एवं वीर-भावना का अद्‌भुत सम्मिश्रण हुआ है।[1]

जहाँ तक मानवतावादी चेतना की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, इसकी अभिव्यंजना प्रासंगिक रूप से संक्षेप में ही हुई है। ब्रह्म और जीव की एकता तथा सभी जीवों-प्राणियों की एकता का प्रतिपादन कवि ने कतिपय स्थानों पर इस प्रकार किया है :

(1) जेते हैं जीव जंत करनहार तुही है।
पूरि रहिओ सरब ही मैं आदि ओत-प्रोत है। (8/9/387)

(2) जोत सो जोत मिलि एक ही रूप है,
एक ही एक नही और आहु रे। (18/57/824)

(3) गोरस में घ्रित जान इमैं,
प्रतिमा प्रभु की सब ही घट माही। (20/9/847)

(4) जो जगि को प्रितिपालक है करता सबको वही एक समानै।
चौरन साहन पसुअन प्राननि जीव सबै हरि एक से जानै।
(20/63/908)

सभी जीवों में एक ही ज्योति विद्यमान है, वे सभी उसी प्रभु की सृष्टि हैं, वह उन सभी का प्रतिपालक है, सभी जीव एक रूप हैं, समान हैं। अर्थात् मानव-मानव में कोई भेद नहीं है।

'खालसा' के आदर्शों के सन्दर्भ में उन्होंने मानवीय गुणों को धारण करने तथा अमानवीय गुणों को त्यागने का उल्लेख किया है जो 'मानवतावाद' के आधार हैं, यथा :

(1) पाप की कुसंगति तजि संगति सो प्रीत करे।
दया और धरम धार तिआगे सब लालसा। (5/30/149)

(2) तजि प्रपंच विकार दुरत जलाइए। 5/36/152)

(3) कूड तन ते गया, जीव मैं भउभया। (5/64/180)

(4) विखिअन से तजि सनेह। (6/1/197)

(5) दुरमति मल छीजै। (6/12/208)

दया-धर्म को धारण करने के अतिरिक्त उन्होंने प्रभु नाम-स्मरण, हरि-गुणगान (2/49/89), संत-सेवा (20/65/901) को भी मानवीय गुण माना है तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार, प्रपंच, विषय-विकार, असत्य, दुर्मति, कपट, लालसा, भ्रम-भैरव (5/44/160, 5/58/174, 20/65/902, 18/23/820, 5/64/180) आदि को मानवीय-दुर्गुण माना है। इन दुर्गुणों-विकारों से युक्त व्यक्ति दुष्ट, दुर्जन या असुर है और इनसे मुक्त तथा अन्य गुणों को धारण करनेवाला संत है, उसी को उन्होंने

---

1. 'गुरु-शोभा' के विस्तृत विवेचन के लिए दृष्टव्य : लेखक-कृत—गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य, पृष्ठ 148-178।

'खालस' या 'खालसा' भी कहा है और इस बात पर ज़ोर दिया है कि मनुष्य को इन दुर्गुणों को त्याग कर और इन मानवीय गुणों को धारण करके 'खालस' बनना चाहिए। (20/13/30)। यह 'खालस' ही एक आदर्श मानव है, जिसके महत्त्व की प्रतिष्ठा वे करना चाहते थे।

कवि ने इस तथ्य का भी प्रतिपादन किया है कि गुरु जी ऐसे संतों—सद्गुण-सम्पन्न मानवों की रक्षार्थ तथा अमानवीय दुर्गुणों वाले दुष्टों, असुरों, दुर्जनों के विनाश के लिए आये हैं। इसी लक्ष्य को पूरा करने के लिए उन्होंने युद्ध किया और इसीलिए खालसा की रचना की, इसी से मानवतावाद की प्रतिष्ठा होगी और जगत का उद्धार होगा :

(1) दुसट विडारन संत उबारन जग तारण भव हरणं। (1/17)

(2) कल मैं करनहार निरंकार कला धार,
जगत के उधारबे गोबिन्दसिंह आयो है।
असुर सिंहारबे को दुरजन के मारबे को,
संकट निबारबे को खालसा बनायो है। (5/14/130)

इसे हम शौर्य से प्रेरित मानववाद भी कह सकते हैं। मानवीय शोषण के अस्त्र के रूप में प्रयुक्त सभी पाखंडों का भी उन्होंने खंडन किया :

जिते सरब भेखं। तिते सरब पेखं।
न पाया अलेखं। यह बात देखं। (1/28)

3. 'महिमा प्रकाश' : सरूपचन्द भल्ला

इस शृंखला में तीसरी महत्त्वपूर्ण रचना सरूपचन्द भल्ला द्वारा वि० संवत् 1833-1857 में रचित 'महिमा प्रकाश' है। यह पहली काव्य-कृति है, जिसमें सभी दस गुरुओं का जीवन-वृत्त वर्णित है। ('महिमा प्रकाश' का अधिकांश भाग पद्य में है किन्तु कुछ भाग गद्य में भी लिखा गया है। इस दृष्टि से यह साखी-साहित्य के भी निकट पड़ती है) 'महिमा प्रकाश' अपभ्रंश तथा हिन्दी के उन चरित-काव्यों की परम्परा की कृति है, जिनमें कथानक के माध्यम से धार्मिक आदर्शों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है। कवि की गुरुओं के प्रति भक्ति एवं आस्था है और उसने उन्हें ब्रह्म के अवतार-रूप में चित्रित किया है, इसलिए उनसे सम्बन्धित घटनाओं में अतिमानवीयता एवं अलौकिकता का आ जाना स्वाभाविक है। इस काव्य रचना में पौराणिक तत्त्व भी प्रचुरता से समाविष्ट है। मुख्यतः कवि ने गुरुमत के आध्यात्मिक एवं सामाजिक विचारों की ही व्याख्या एवं प्रतिष्ठा की है तथापि उस पर वैष्णव-परम्परा तथा अवतारी भावना का भी यथेष्ठ प्रभाव है।

कवि ने गुरुओं की कथा, उनके चरित्र, आचरण एवं उपदेशों के माध्यम से स्थान-स्थान पर मानववाद तथा मानवतावाद की प्रतिष्ठा की है। गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं को सत्य, संयम, संतोष, संत-सेवा, हरि-स्मरण, परोपकार आदि के महत्त्व और अहंकार, तृष्णा, लोभ, मोह, क्रोध आदि के निवारण का प्रतिपादन करते दिखाया गया है। सामाजिक वर्ण एवं वर्गगत विषमता का खंडन करके मानवीय एकता और समानता में

भी उनका विश्वास प्रकट किया गया है। सभी गुरु धार्मिक पाखंडों एवं मिथ्याचारों का भी विरोध करते हैं और इस तरह मानव-हित में बाधक तत्त्वों का विरोध करते हैं तथा मनुष्य मात्र के लिए मंगलकारी मूल्यों एवं मनोभावनाओं को स्वीकारने पर बल देते हैं। वे सद्‌गुण-सम्पन्न संतों की महिमा का वर्णन करते हैं और कुसंगत के कुफल का निरूपण करते हैं।

यहाँ भी गुरुओं को दुष्टों और विकारों का नाश करने के लिए तथा संतों की रक्षा के लिए अवतरित कहा गया है। गुरु गोबिन्दसिंह के जन्म पर अवतार के रूप में उनकी प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि वे दुष्टों को दण्डित करने, उन्हें नष्ट करने के लिए तथा जन-मन को हर्षित करने के लिए और सिखों को सुख देने के लिए आये हैं—

उतरे जग बंदन दुसटन दंडन जन उर चंदन सुख सारा।
सिख सुखदाता भगत विधाता गिआन गिआता करतारा।
सिस बाल मुकन्दे आनन्द छन्दे सुर नर बन्दे अधकारा।
कलयुग धउ धारन सेवक तारन दुसट बिदारन विवहारा। 202/12

4. 'गुरु विलास' : सुक्खा सिंह

'गुरु विलास' इस परम्परा की दूसरी महत्त्वपूर्ण रचना है। यह संत-योद्धा गुरु गोबिन्दसिंह के जीवन पर आधारित एक वीररसात्मक प्रबन्ध-काव्य है, जिसकी रचना सुक्खासिंह ने 1854 वि० में केसगढ़ में की थी। लगभग पाँच हज़ार छंदों की इस रचना में गुरु गोबिन्द सिंह का जीवन-वृत्त विस्तार से वर्णित है। उनके पिता गुरु तेगबहादुर की गुरु-पद प्राप्ति, उनकी पूर्व भारत की यात्रा, पटना में इनके जन्म, इनकी विविध बाल-लीलाओं, गुरु तेग बहादुर के बलिदान, दशम गुरु के विविध युद्धों एवं नादेड में मृत्यु तक की सभी ऐतिहासिक महत्त्व की घटनाओं का वर्णन इस काव्य-ग्रंथ में हुआ है। युद्धों का चित्रण अत्यंत विशदता और ओजस्वी शैली में किया गया है। खालसा की रचना का प्रसंग भी विस्तार से वर्णित है। उसकी रचना की पृष्ठभूमि, कारण, स्वरूप, गुण, महत्त्व आदि पर भी प्रकाश डाला गया है। इस कृति में ऐतिहासिकता के साथ-साथ पौराणिक तत्त्व भी समाविष्ट है। सर्वत्र धार्मिक वातावरण विद्यमान है। गुरुजी को अवतारी-रूप में चित्रित किया गया है। उनके चरित्र के साथ अनेक अलौकिक एवं अतिमानवीय घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। कथानक का सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिदृश्य भी व्यापक है। सभी घटनाएँ एक विशिष्ट कार्य—असुर-संहार, खल-विनाश और संत-उद्धार के प्रति संगठित हैं। कवि के अनुसार गुरु जी ने असुरों-तुरकों के संहार, खल-दल विनाश, संत और धर्म की रक्षा, भक्तों की पालना और भूमि-भार उतारने (5/260-285) के लिए अवतार धारण किया है—वे दीनबन्धु हैं और दीन-दुखियों के दुःखों का नाश करनेवाले हैं—

(1) जब जब होत अरिसट अपारा। तब तब देह धरत अवतारा।
दुसट अरिशिट सु प्रलै कराई। उन भगतन उर रहत समाई। (12-84)

(2) दीन बन्धु साहिब अवतारी। गाफल गज संत हितकारी।
खडगपान खल दल बल गंजन। भगतपाल दीनन दुखभंजन। (5/197)

(3) संतन की रच्छा कि काजा। धरे सरूप गरीब निवाजा। (30/65)

उस युग में परिव्याप्त राजनीतिक निरंकुशता, शासकीय नृशंसता, धार्मिक कट्टरता, सामाजिक अन्याय, दमन, अत्याचार और अनाचार आदि का कवि ने विशदता से चित्रण किया है और इन अमानवीय कृत्यों की खुलकर भर्त्सना की है। औरंगजेब के हिन्दुओं पर अत्याचारों, उन्हें बलपूर्वक मुसलमान बनाने, जनेऊ तोड़ने, देवालयों के गिराने का भी वर्णन किया है। यही कारण है कि इस रचना में यवन-विरोधी स्वर बहुत तीव्र है, क्योंकि यहाँ यवन धर्मान्धता, अनाचार, अन्याय और अत्याचार के प्रतीक हैं, और मानवीय स्वतन्त्रता के विरोधी हैं। कवि ने ऐसे यवनों के लिए असुर, दुष्ट और मलेच्छ जैसे शब्दों का भी प्रयोग किया है, तथा उनके उन्मूलन और हिन्दू धर्म की रक्षा के गुरु गोबिन्दसिंह के संकल्प को दृढ़ता से प्रतिपादित किया है।[1] कश्मीरी ब्राह्मणों की धार्मिक स्वतन्त्रता के लिए गुरु तेगबहादुर का बलिदान मानवीय स्वतन्त्रता की महत्ता का ही प्रतीक है, जो कि मानवतावादी दर्शन की प्राथमिक अपेक्षा है। ये यवन भारत की स्वतन्त्रता के भी घातक थे और दूसरों के धर्म पर प्रहार कर रहे थे और सामान्य जन के हितों का हनन करते थे। इसलिए वे सिक्खों को आदेश देते हैं कि इनसे कोई सम्बन्ध न रखें। (329/32) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता और लोकहितों की रक्षा के लिए गुरु गोबिन्दसिंह 'धर्मयुद्ध' करते हैं और घोषणा करते हैं कि इसके समान कोई पुण्य नहीं है (5/402)।

ये ऐसे 'धर्मयुद्ध' हैं जो असत्य, अधर्म, अत्याचार के विरुद्ध और सत्य, न्याय, धर्म की रक्षार्थ लड़े जाते हैं, इसलिए मानव-मंगलकारी हैं और मानव-धर्म अथवा मानवतावाद के प्रवर्त्तन में सहायक होते हैं।

यहाँ कवि का 'मानवतावाद' शौर्य पर आधारित है और राष्ट्रीय एवं मानवीय भावना से प्रेरित है।

कवि ने गुरु गोबिन्दसिंह के जिस चरित्र का वर्णन किया है, उसमें भी धैर्य, दृढ़ता, निर्भीकता, साहस, शौर्य, दीन-दयालुता, त्याग, औदार्य, विनम्रता, दानशीलता आदि मानवीय गुणों का समावेश है। उनका शौर्य और पराक्रम असहायों की रक्षार्थ है और वे निहत्थों एवं भागते हुए योद्धाओं पर प्रहार नहीं करते। वे संत-योद्धा है, एक आदर्श मानव हैं। उनके साथ के योद्धाओं में भी ये ही गुण विद्यमान हैं।

'गुरु' और 'संत' को भी वे आदर्श मानव के गुणों से सम्पन्न मानते हैं। जो हर्ष-शोक, चिन्ता, लोभ, मोह से मुक्त है, वही सच्चा सतगुरु है। उसकी वाणी भी अद्भुत होती है—

हरख सोग चिंता नहीं लोभ मोह ते पाक।
ताको सतिगुरु जानिये अद्भुत वाके वाक। (22/84)

'संत' 'श्रेष्ठ मानव' का रूप है। उसके मन में परमात्मा का वास होता है। कवि के अनुसार साधु-संत चाहे हिन्दू हो या तुरक, उस पर गुरु जी की कृपा है (26/40-75)।

---

1. तुरक मलेछ होइ सभ छारा। असुर मलेछ मारि करि ढेरि। 10/142
जगत उधारन भै हरन, क्रिपा सिंध करतार। 1/21

गुरुजी कहते हैं कि जिनका धर्म-ईमान पूरा है, चाहे वह तुरक हो उसका आदर-सत्कार करना चाहिए (22/59, 22/30-40)। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि गुरुजी मानव-धर्म के विरोधी तुरकों का ही विरोध करते हैं, मानवीय गुणों से युक्त तुर्कों को भी वे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं।

गुरु जी का कथन है कि ऐसे सन्तों की सेवा से तथा उनकी संगति से मनुष्य संसार के सभी प्रपंचों को काटकर, हउमै, मोह, माया, काम, क्रोध आदि से बचकर पवित्र हो जाता है (28/52-33), अर्थात एक श्रेष्ठ मानव बन जाता है।

जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हुए कवि का कथन है कि वह "एक अनेक सकल घटवासी है" (1:2)। सागर से बूंदें अलग नहीं हैं—(सागर जुदे न होई तरंग—26/146-47)। साथ ही आध्यात्मिक स्तर पर मानववाद की प्रतिष्ठा करते हुए उन्होंने यह भी कहा है कि "यहाँ अमर वही रहता है जो सब जीवों को परमात्मा का रूप समझकर प्रभु का भजन करता है" (22/146)। यहाँ सभी वर्णों के भोजन की एक स्थान पर व्यवस्था करके सामाजिक स्तर पर भी मानवीय समता का प्रतिपादन किया गया है (12/136)। वर्णाश्रम-व्यवस्था का उन्होंने विरोध भी किया है (12/129-140)।

अमानवीय कृत्यों, वृतियों एवं दुष्कर्मों-गुनाहों, अवगुणों का भी उन्होंने निषेध किया है। पंच-प्रपंचों के त्याग का भी उपदेश दिया गया है (ग्रन्थ के अन्त में)। उनके अनुसार नमकहरामी, कृतघ्न, पापी कभी सुखी नहीं होता (21/281-91)। दुष्ट ब्राह्मण द्वारा गुरु-पुत्रों की हत्या की साजिश में शामिल होने की भर्त्सना करते हुए गुरु-विमुखता की दुर्दशा का चित्रण किया गया है (14/117-167)। कवि का मत है कि जब तक अमल साफ नहीं होता, शुद्धाचरण नहीं होता, कुरान पढ़ना, बन्दगी करना सब व्यर्थ है (22/233-35)। झूठ को त्याग कर स्वयं शुद्ध होकर सन्त-सेवा करना ही असली बन्दगी है। यही धर्म, यही आत्मज्ञान है (26/151)। शासकों के अत्याचारों की भर्त्सना करके तथा मुसलमानों के मिथ्याभिमान, धार्मिक कट्टरता, मिथ्या विश्वासों का खंडन करके (22/133-144) भी मानवतावादी दृष्टि का परिचय दिया गया है। नाथों, सिद्धों, योगियों, यतियों, मूर्तिपूजकों, संन्यासियों, देवी तथा अन्य अवतारों के उपासकों के बाह्याचारों, मिथ्याडम्बरों, पाखण्डों आदि की भी निन्दा की गई है (28/70-80), (12/133-34, 19/128-35, 26/140-150)। ऐसे ब्राह्मणों की भी आलोचना की गई है जो धन के लोभ से दीन-धर्म को बेचने को तैयार रहते थे (18/9-30)। लोभी, पाखण्डी, अहंकारी मसंदों के विनाश को भी उचित ठहराया गया है (11/2-5, 46-50)। हिंसा को सब से बड़ा दोष कहा गया है।[1] झूठ को त्यागने पर भी बल दिया गया है।[2]

---

1. हिंसा समान नहीं अवर दोख। (9/33)
2. झूठ सरब उपाव तिआगहु (9/49)
   झूठ उपाव जगत के त्यागहु। (12/124)

कलिकाल वर्णन के अन्तर्गत कवि ने युग की जिस पतित अवस्था का चित्रण किया है वह उस युग की अमानवीयता का दिग्दर्शन करवाता है और आनन्दपुर के गुरु-दरबार के सांस्कृतिक परिदृश्य का वर्णन, जहाँ सेवा, त्याग, मानव-प्रेम, संतोष, दया, स्वाभिमान, स्वतन्त्रता का भाव है, हरिनाम का उद्घोष है, मानवतावादी चेतना का अभिव्यंजक है। उनके अनुसार आदर्श राज्य वह है, जहाँ पाप न होता हो, और वह धर्म की नींव पर स्थापित हो (13/28)।

अन्यत्र भी उन्होंने क्षमा (26/40-75) गुरु-सेवा, नाम-स्मरण, चरित्र की शुद्धता और पवित्रता 7/24, 26/151-161), धर्म-धीरता (2/73), परोपकार (5/161), संतोष (2/190), कृतज्ञता (6/191) दया (9/31, 32), सेवा-भाव (12/106), माता, पिता गुरु का सम्मान करना (16/170), परदुख कातरता (17/78) सहन शीलता (24/29), शरणागत रक्षा (25/83), निर्लोभ (28/93-94) को धारण करने और बुराइयों (13/125), कुबुद्धि (13/129-130) के त्याग पर बल दिया है।

5. 'गुरु नानक विजय' (संतरेण) :

गुरु नानक के जीवन पर आधारित अनेक साखियाँ और काव्य-रचनाएँ उपलब्ध हैं। इनमें दो विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। संतरेण कृत "गुरु नानक विजय" तथा संतोख सिंह कृत 'गुरु नानक प्रकाश।'

'गुरु नानक विजय' एक वृहदाकार रचना है, जिसमें 347 अध्याय तथा 24382 छंद हैं। यह गुरु नानक देव के जीवन पर आधारित एक धर्मप्रधान ग्रंथ है, जिसमें ऐतिहासिकता के साथ पौराणिकता का समावेश प्रचुरता से हुआ है। संतरेण का जन्म संवत 1798 में श्रीनगर में हुआ था। बाद में उन्होंने उदासी-सम्प्रदाय में प्रवेश किया। 1922 वि. में मालेरकोटला में इनका निधन हुआ। वहीं 'गुरु नानक विजय' ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति उपलब्ध है।

इस ग्रंथ में गुरु नानक के जन्म, उनके पिता, उनकी बाल्यावस्था, किशोरावस्था के कार्यों, विवाह, यात्राओं एवं धर्मप्रचार का विस्तृत एवं चमत्कारपूर्ण घटनाओं से युक्त वर्णन है। उनके चरित्र को पौराणिक रूप दिया गया है और उनके साथ अनेक अलौकिक घटनाओं को जोड़ा गया है। कवि ने उन्हें उदासी सम्प्रदाय के संस्थापक भी माना है और उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना प्रकट की है। इस ग्रंथ पर वैष्णव मत का गहरा प्रभाव है और बाबा श्रीचंद जी को गोरख का अवतार माना गया है। गुरु नानक के चरित्र, कार्यों एवं उपदेशों के माध्यम से हरि-नाम, भक्ति-भावना तथा मानवतावादी लक्ष्यों की स्थापना की गई है।

संतरेण ने आत्मा और परमात्मा की अद्वैतता को[1] प्रकट करते हुए मानवीय

---

1. जिम जल ते बहु उठई लहिरां अउर तरंग।
   पुनि जलु मैं ह्वै लीन सभि जलु एक सदा उमग। (ब्र. ख. 14/19)

एकता का प्रतिपादन किया है और सब जीवों को समान माना है। आत्मा को सत्य, चित्त, आनन्द स्वरूप माना है।[1] शरीर अनित्य, दुखात्मक और रोगयुक्त है; संसार नाशवान एवं क्षणभंगुर है तथा कर्मफल के अनुसार आवागमन में भटकता रहता है। इसलिए मनुष्य को विषय-वासना, दुष्कर्मों एवं अहंकार आदि को त्यागकर (दोहि अभिमान तजि) संत सेवा करनी चाहिए, सद्‌गुणों को ग्रहण करना चाहिए, दया और परोपकार करना चाहिए, हिंसा को त्याग देना चाहिए और हरि-नाम का स्मरण करना चाहिए। उन्होंने सभी के भीतर परमात्मा का निवास माना है।[2]

गुरु नानक का जैसा चरित्र कवि ने अंकित किया है, वह एक आदर्श मानव का चरित्र है। राग-द्वेष से मुक्त, शीतल स्वभाव, परम संत, दयालु एवं मानव का कल्याण चाहने वाले। उनकी मानव-मंगलकारी भावना इस ग्रंथ में सर्वत्र परिव्याप्त है, जो कवि के मानवतावादी दर्शन को परिचायक है। उनका यह मानवतावादी धार्मिक संदर्भों में ही परिपुष्ट हुआ है। एक अच्छा धार्मिक व्यक्ति बनने के लिए मनुष्य को क्या-क्या करना चाहिए, इसका वर्णन करते हुए कवि का कथन है कि वह गुरु चरणों की पूजा करे, सतों की सेवा करे, भक्तों की संगति करे, प्यासे को पानी पिलाए, भूखे को भोजन करवाए (पत्रा संख्या 933/21)[3] भूलकर भी मूर्खों की संगति न करे, दीनों पर दया करे, बड़ों का आदर-सत्कार करे, निर्धन की सहायता करे, ब्राह्मणों को दान दे तथा नित्य हरि-नाम का स्मरण करे।[4]

संतरेण का कथन है कि 'यह मनुष्य जन्म बार-बार नहीं मिलता।' इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इस प्रकार के मानवीय धर्म का पालन करे और मानवहित के लिए कार्य करे। ऐसे गुणों से युक्त संतों के समान संसार में और कोई नहीं है और जो ऐसे संतों को सुख देता है, प्रभु उसे सुख देते हैं।[5]

सन्तों के गुणों/लक्षणों का निरूपण करते हुए सन्तरेण कहते हैं कि 'वे परगुण,

---

1. सति चित आनन्द सरूप परिपूरन जो
   तुमरो सरूप सोई तां को वो लखाईए। (पत्रा 86/39)
2. मुख गुणि सभ घटहरि को जानै। जथा सकती सभ ही को मानै। (पत्रा 87/32)
3. ध्यान गुरमूरति का पूजा गुर पाइन की।···
   सेवा नित संतन की संगति भगतन की,···
   प्यासे को पिलाई पानी भूखे को जिवाई अन्न।
   आप ते गरीब पर दया नित कीजिए। (पत्रा 933)
4. मूरख की संगति न भूलि कबहूँ कीजिए,
   दीन पर दया करै, बडिन को पाई परे,
   निरधनु देखै जाँहि ताँहि कछु दीजिए।
   मानस जनम ऐहु बार बार मिलै नाहि,
   सति को शिगार जैसे एक बार हूजिए। (पत्रा 503/21)
5. संतन समान दूजा जग माहि नाहि को,
   तिन को जो सुख देवै राम देवै ताँहि को। (पत्रा 722/11)

परधन, पररूप, परयश को देख सुनकर आनन्दित होते हैं, दूसरों की बुद्धि, ज्ञान, विद्या पर उनका और अधिक सम्मान करते हैं, दूसरों की स्त्री, पुत्र, घर आदि के सुख को सुनकर वे हर्षित होते हैं, दूसरों के लाभ, पुण्यों, कीर्ति से वे प्रसन्न होते हैं। वे दूसरों के अवगुणों को छुपाते हैं, दूसरों के गुणों की प्रशंसा करते हैं, दूसरों की निन्दा से ग्लानि अनुभव करते हैं, परस्त्री को सुता समान समझते हैं, दूसरों के दोषों का वर्णन नहीं करते, दूसरों के दुखों का निवारण करते हैं, शरणागत का उद्धार करते हैं, दूसरों की आत्मा को नहीं दुखाते, दूसरों के मान को बढ़ाते हैं, जिनमें इस तरह के गुण होते हैं, उन्हें सन्त कहना चाहिए।

(पत्र संख्या 1567/13-14 वरन खण्ड दसवां अध्याय)

जो राग-द्वेष, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, सुख-दुख, स्वर्ण और काँच में समभाव रखता है तथा जो शान्ति, क्षमा, दया का भण्डार है और बालकों के समान निर्लिप्त तथा निश्छल व्यवहार करता है, उसे उन्होंने 'जीवन-मुक्त' कहा है (प्रताप खण्ड 13/51/53 पत्र सं० 780)। यह 'जीवन-मुक्त' ही उनका 'आदर्श मानव' है।

इसके विपरीत रजोगुणी जीवन व्यतीत करने वाले, विषयों में लिप्त वेशधारी-पाखण्डी साधुओं की उन्होंने भर्त्सना की है (पत्र 1475/58) और ऐसे लोगों के कर्मों को अमानवीय कहा है जो लोक हित में नहीं होते।

उन्होंने वेश्यागमन, जुआ खेलने, मदिरापान, माँस-भक्षण आदि कुकर्मों; काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार आदि कुवृत्तियों की भी निन्दा की है और उनके दुष्परिणामों की चर्चा की है (ज्ञान खण्ड अध्याय 16/23/30)। एक स्थान पर उन्होंने शासकों के आदर्श का भी उल्लेख किया है और आम लोगों के गुनाहों का जिम्मेदार भी शासक को माना है। उनके अनुसार शासक का कर्त्तव्य है कि किसी को भूखा-नंगा न रहने दे, जो बेकार है, उसे रोजगार दे (पत्र 944/9,96)।

भक्ति के स्तर पर उन्होंने ऊँच-नीच, सामाजिक भेदभाव को भी अस्वीकार करके सभी वर्णों की समानता को स्वीकार किया है—

ऊँच नीच अन्तरि नहि कोई। हरि को भजे सु हरि का होई।

(प्र० खण्ड 5/58)

इस प्रकार सन्तरेण ने 'नानक विजय' ग्रन्थ में मानवीय मूल्यों की स्थापना की है तथा मानव मंगल अथवा मानव-हितकारी 'मानवतावादी' गुणों की प्रतिष्ठा की है।

6. 'गुरु नानक प्रकाश' एवं 'गुरु प्रताप सूरज' : महाकवि सन्तोख सिंह

इस परम्परा की सर्वश्रेष्ठ प्रबन्धात्मक काव्य-कृतियाँ 'गुरु नानक प्रकाश' और 'गुरु प्रताप सूरज' हैं, जिनकी रचना महाकवि सन्तोख सिंह ने क्रमशः बूडिया (अम्बाला) और कैथल में वि०सं० 1880 और 1900 में की। सिक्ख परम्परा में ये दोनों ऐतिहासिक महत्व की रचनाएँ हैं। 'गुरुनानक प्रकाश' गुरु नानक के जीवन पर आधारित है, जिसमें गुरुनानक के जन्म, बाल-क्रीड़ाओं, विवाह, उनके जीवन की अनेकानेक घटनाओं, धर्म

यात्राओं, उपदेशों, सिद्धान्तों आदि का विशदता से वर्णन किया गया है और 'गुरु प्रताप सूरज' में अन्य नौ गुरुओं और बन्दा बहादुर का जीवन-वृत्त विस्तार से वर्णित है। "गुरु नानक प्रकाश" में 130 अध्याय और 9700 छन्द हैं और 'गुरुप्रताप सूरज' में 20 अध्याय 1151 अंशु तथा 51829 छन्द हैं। एक तरह से 'गुरु नानक प्रकाश' को 'गुरु प्रताप सूरज' का पूर्व भाग भी कहा जा सकता है और इस प्रकार यह 60000 छन्दों का वृहदाकार प्रबन्धकाव्य है। सिक्ख परम्परानुसार इसे सिक्ख धर्म, दर्शन, संस्कृति एवं इतिहास का 'विश्वकोश' कहा जाता है। यह एक ऐतिहासिक काव्य है, जिसमें धर्म-भावना की प्रधानता है और कथानक, घटनाओं, पात्रों के चरित्र तथा संवेदना और कथ्य को पौराणिक रूप प्रदान किया गया है, इसीलिए कवि ने इसे 'इतिहास पुराण' की संज्ञा भी दी है। अनेक पौराणिक कथाओं को भी इसमें समाविष्ट किया गया है। गुरुओं और मुगलों के समय की लगभग 300 वर्षों की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों, चुनौतियों और नव-जागरण का भी इसमें यथार्थ, सर्वांगीण एवं विशद चित्रण हुआ है।

गुरुओं के इतिहास, युग-दशा के साथ-साथ धर्म, दर्शन, नीति, भक्ति, संस्कृति, विविध चरित्रों के क्रिया-कलापों, संवेदनाओं आदि का इतना विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में हुआ है कि इसे 'महाभारत' के समान 'महाग्रन्थ' की संज्ञा दी जा सकती है।

इन दोनों प्रबन्धों में मानववादी स्वर बड़ी प्रखरता से उभर कर सामने आया है और मानवतावादी मूल्यों की स्थापना बड़ी निष्ठा एवं दृढ़ता से की गई है। 'नानक प्रकाश' में एक ओर तो परमात्मा और जीवात्मा की अभेदता का निरूपण इस प्रकार किया गया है कि—

आपे पट्टी कलम सु आपे, लिखणहार सो दुती न जापे।
सभि महिं विओ एक खुदाई, छूछी कहु न तिस बिन थाई॥
(उत्त० 33)

वहीं हिन्दू, तुरक, ऊँच-नीच सभी को एक ही मिट्टी से निर्मित कहकर तथा सभी में एक ही ज्योति की स्थिति मानकर मानववादी भावना का प्रतिष्ठापन किया गया है—

इक माटी इक ते करे, एक जोति सभी मांहि।
इक सो बन्यो बनाऊ, तहिं भरमहु उर माहि नाहिं।
खालक एक खलक बनाई, भलाजु बुरा नीच उचताई।
(पूर्व० 41/64-71)

इस कथा-काव्य के चरित्र नायक गुरु नानक भी सद्गुण सम्पन्न, उदात्त चरित्र वाले हैं जो मानवता को भक्ति, करुणा, भूत-दया, क्षमा, सेवा, त्याग, परोपकार, सत्संगति, सत्य को धारण करने और अहंकार, तृष्णा, लोभ, मोह, माया, दुष्कर्म, विषय-वासना के त्याग आदि का सन्देश देते हैं। वे एक उदात्त, पवित्र, सात्विक मानव की परिकल्पना करते हैं, उच्च मानवतावादी मूल्यों की प्रतिष्ठा करते हैं तथा अनुचित दुष्कर्मों और अमानवीय वृतियों की भर्त्सना करते हैं। वे 'पूर्ण मानव' हैं और मानवता के

उपासक हैं। वे मानव कल्याण की भावना से ओतप्रोत हैं। वर्ण, वर्ग, भेद, जाति, पाति, पाखण्ड, आडम्बर, मिथ्याभिमान के वे कट्टर विरोधी हैं।

'गुरु नानक प्रकाश' में कवि ने कलिकाल का वर्णन करते हुए उसके प्रभाव से बढ़ रहे अमानवीय आचरण और पाप समूह की निन्दा की है। उनका कथन है कि "कलिकाल के कारण पाप समूह प्रकट हो गए हैं—लोगों के विचार मतिहीन एवं पापमय हो गए हैं, अन्यायी गरीबों और गुरु की हत्या कर रहे हैं, कुरीतियों का प्रचलन हो रहा है। नृप बुद्धिहीन एवं मलिन हो गए हैं, लगता है शुभ कर्मों को किसी ने छीन लिया है। मंत्री लोभी-दुराचारी, कुटिल, दुबुद्धि एवं वेश्यागामी हैं। लोग दुष्कर्मों में लिप्त हैं। काज़ी न्याय का नाम नहीं लेते। सत्य को झूठ कर देते हैं और रिश्वतखोर हैं। लोग दुखियों और गरीबों का धन लूटते हैं, दूसरों के कार्यों की हानि करते हैं, वे दूसरों को दुख देने वाले हैं, पर-स्त्री, पर-निन्दा में नित्य लीन रहते हैं,—"वैरागी गृहस्थी से अधिक तृष्णा की आग में जल रहे हैं, राजारूपी बाड़ स्वयं प्रजा रूपी खेत को खा रही है—सारा जग भय के कारण व्याकुल हो रहा है—" इत्यादि। (वही, पूर्व० 3/4-15)

ये सब अमानवीय कृत्य हैं, जिनमें राजा-शासक, मंत्री, न्यायाधीश, धर्मगुरु, संन्यासी-वैरागी और सामान्यजन ग्रसित है। इनके ये घृणित कृत्य मानव विरोधी, मानव अहितकारी हैं। गुरु जी इनकी निन्दा करते हैं और इनका परिहार करके एक स्वस्थ मानवीय, मानव मंगलकारी समाज की स्थापना करना चाहते हैं। गुरु जी जगह-जगह जन-समाज को अपने उपदेशों से तथा विभिन्न धर्माचार्यों, पंडितों, मुल्लाओं, योगियों आदि को उनके साथ वाद-विवाद में उनकी धर्मान्धता, कट्टरता, संकुचितता, मिथ्यात्व, पाखण्डों और आडम्बरों का विरोध करके सही सात्विक मानवीय मूल्यों में उनकी आस्था जगाने का प्रयास करते हैं—

वे 'संत' को 'आदर्श मानव' का प्रतिरूप मानकर उसके लक्षण और गुणों का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

"जिस प्रकार कार्तिक के महीने में आकाश विमल और शुद्ध हो जाता है, वैसे ही सन्त निर्मल होते हैं। वे संसार को रेत के समान समझते हैं, मृदुल हृदय, नित्य परोपकारी, दूसरों के दु:ख में दु:खी और सुख में हर्षित होने वाले, सुख-दु:ख, हर्ष-शोक[1] में समान भाव रखने वाले, द्वेष, मोह-मान से मुक्त और हरि-स्मरण के रंग में रंगे होते हैं (उत्त० 8/64-66)

भाई संतोखसिंह का कथन है कि मनुष्य को इस प्रकार का सात्विक और उदात्त आचरण करना चाहिए और नित्य ईर्ष्या, छल, कपट, मद, मत्सर, अहंकार, लोभ, क्रोध, लोलुपता को त्याग कर सत्य, शील, सन्तोष, क्षमा, करुणा आदि को धारण करना चाहिये (उत्त० 11/75-85)। भूखे को अन्न, नग्न को वस्त्र, तृषातुर को जल

---

1. हरखैं पर को सुख देख सदा, पर पीर सहार सकै न कदा।
करुणा मन कोमल सील जुतं। सुख पावती ह्यो पर लोक गतं।
(पू० 26/44-45)

देना चाहिए। दान देने और 'वंड खाने' का उपदेश भी जगह-जगह दिया गया है।

यहाँ गुरु नानक हिंसा, द्वेष, दुष्टता, असत्य, चुगलखोरी, अधर्म आदि कुवृत्तियों और कुकर्मों के भयंकर दुष्परिणामों को भी निर्दिष्ट करते हैं। उनका कथन है कि ईर्ष्या, छल और क्रोध को त्यागने से ही मन को शान्ति मिलती है—

दूरखा, परूखा घर आमरखा।
मन शान्ति सदा इन ते तनखा।

इस प्रकार के अमानवीय दुगुर्णों एवं कुकर्मों के त्यागने तथा सद्गुणों और सत्कृत्यों से ही मानव का हित होगा और यही उनका वास्तविक 'मानवतावाद' है।

जो इस प्रकार के मानवीय गुणों को धारण करता है, भाई संतोखसिंह की दृष्टि में वही 'गुरुमुख' हैं, और वही सच्चा 'सिक्ख' है, तथा जो इन सद्गुणों से मुँह मोड़कर कुकर्म करता है और कुवृत्तियों में लीन रहता है, वही 'मनमुख' है और मानव-विरोधी है।

'कर्म फल' और आवागमन के सिद्धान्त से भी उन्होंने मानवीय मंगलकारी आचरण की महत्ता का ही प्रतिपादन किया है।

'गुरु प्रताप सूरज' ग्रंथ में भी 'मानववाद' और 'मानवतावादी' दर्शन की स्थापना इसी रूप में अन्य नौ गुरुओं के जीवन-वृत, चरित्र, उपदेशों एवं कार्यों के सन्दर्भ में और अधिक विशदता से की गई है। आत्मा और परमात्मा की अद्वैतता का प्रतिपादन करते हुए सभी जीवों की समानता का निरूपण करके "मानुष की जाति सभी एकै पहिचानबो" की अवधारणा को पुष्ट करके आध्यात्मिक स्तर पर 'मानववाद' की स्थापना की गई है।

गुरुओं द्वारा, विशेष रूप से, गुरु अर्जुन देव द्वारा धर्मशालाएँ बनवाने, सरोवर, कुएँ, बावडियाँ खुदवाने और नगर बसाने आदि के लोक हितकारी कार्यों से भी उनके 'मानवतावादी' दृष्टकोण को व्यावहारिक स्तर पर चरितार्थ किया गया है।

सामाजिक स्तर पर अनेक प्रसंगों में गुरुओं को वर्ण-आश्रम व्यवस्था का विरोध करके सामाजिक समानता का प्रवर्त्तन करते दिखाया गया है। धार्मिक, सामाजिक अथवा आर्थिक स्तर पर सभी प्रकार के शोषण का खण्डन करके गुरु सामाजिक न्याय पर बल देते हैं। जो उनके 'मानवतावादी' चिन्तन के अनुरूप है। गुरुओं ने लंगर-प्रथा का आरम्भ किया था, जिसमें सभी वर्णों एवं वर्गों के लोग एक ही देग में पके अन्न को एक पंक्ति में गुरुजी के साथ बैठकर खाते थे। इससे भी मानवीय समानता एवं एकता को मज़बूती से प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है।

भाई संतोखसिंह ने 'गुरु दरबार' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वहाँ "राजा और रंक का, आम और खास का कोई भेद नहीं था। वहाँ नित्य लंगर लगता था और सब वर्ग और वर्णों के लोग उसमें एक साथ भोजन करते थे। वहाँ रवाबी राग गाए जाते थे और हरि-कीर्तन होता था। जितना अन्न आता था, वह उसी दिन पका दिया जाता था। अगले दिन के लिए कुछ शेष नहीं बचता था। संग्रह का कोई भाव नहीं था। निःसन्देह, वहाँ के मानवतावादी वातावरण का यह एक उल्लेखनीय उदाहरण है।

जिस प्रकार गुरुनानक देव ने कहा था, "वे उनके साथ हैं जो नीच से भी अति नीच है, बड़ों से उनका क्या वास्ता।" भाई संतोखसिंह ने भी अपने काव्य में इसी चेतना को प्रकट किया है और यह स्थापना की है कि जाति-पाति का भेद निरर्थक है, सभी में वही परमात्मा समाया हुआ है—

इम सतिगुर निज सिख समझावहिं।
अपर रहित सो बहुर बतावहिं ॥41॥
जाति पाति को भेद न कोई।
चार बरन अचवहिं इक होई ॥42॥

(गुरु प्रताप सूरज रितु 3:19)

सभ मधे रविआ मेरा ठाकुर दान देत सभि जीअ साहारे।
एको एकु आदि इकु एकै एकै हे सगला पासारे।

गुरुओं ने राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक जागरण के साथ-साथ परतन्त्रता, दमन, अन्याय, अत्याचार, धर्मान्धता, कट्टरता के विरोध में भी अपनी आवाज़ उठाई। ऐसी शक्तियों के विरुद्ध आजीवन संघर्ष किया, अनेक बलिदान दिये। मानवीय-स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता, सामाजिक न्याय, मानवीय अधिकारों, स्वाभिमान और अस्मिता की रक्षा के लिए गुरु अर्जुनदेव को अनेक यातनाएँ सहनी पड़ीं, गुरु तेगबहादुर को सहर्ष अपना बलिदान देना पड़ा, उन्होंने अपना सिर दिया, पर अपना सिरर (धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रण) नहीं छोड़ा; गुरु गोबिन्दसिंह इन्हीं लक्ष्यों की रक्षार्थ आजीवन इन आततायी शक्तियों से जूझते रहे और अपने पुत्रों तक को न्योछावर कर दिया। मानवीय स्वतन्त्रता की रक्षार्थ गुरुओं का यह त्याग अद्‌भुत एवं अद्वितीय है, जिसका वर्णन 'गुरु-प्रताप सूरज' में बड़ी निष्ठा, दृढ़ता और विस्तार से किया गया है और यही इस ग्रंथ का मुख्य स्वर है। गुरुओं को यहाँ दीनों, सन्तों, दुखियों की रक्षा करते हुए और दुष्टों, पापियों, अत्याचारियों का विनाश करते हुए दिखाया गया है। उनका अवतरण ही इस उद्देश्य से हुआ है। 'दशम गुरु (वचित्रानाटक) की इस परि-कल्पना को, कि—

हम इह काज जगत मो आये,
धर्म हेत गुरुदेव पठाए,
जहाँ तहाँ तुम धर्म विथारो,
दुसट देखियनि पकरि पछारो।

को 'गुरु प्रताप सूरज' के विविध प्रसंगों में चरितार्थ किया गया है।

इस ग्रंथ की रूपक-योजना में भी कवि ने मानवता विरोधी नृशंस तुरक शासकों, उनके उमरावों, सरदारों और धर्मान्ध तथा असहिष्णु-मुल्लाओं के लिए हिंसक पशु, उल्लू, चमगादड़, जंबुक आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है जो कवि की मानवतावादी दृष्टि को ही प्रकट करता है।

'गुरु प्रताप सूरज में धार्मिक भावना के साथ-साथ वीर-भावना की प्रधानता है। उसमें लगभग 23 युद्धों का वर्णन है और लगभग दस हजार छन्द वीर-रस से सम्बन्धित

है। यहाँ गुरु हरिगोविन्द, तेग बहादुर, गुरु गोबिन्दसिंह, उनके सुपुत्रों तथा उनके अनेक योद्धाओं की शूरवीरता, निर्भीकता, शौर्य, साहस, दृढ़ता, धैर्य, पराक्रम आदि का कवि ने अत्यन्त ओजस्वी रूप में वर्णन किया है, लेकिन यहाँ इन सभी का शौर्य-प्रदर्शन धर्म, सत्य, न्याय, दीन, दलित, दुखियों की रक्षा के लिए, आदर्श मानवीय मूल्यों की स्थापना के लिए तथा असत्य, अधर्म, अनीति, अनाचार, अत्याचार, आतंक आदि अमानवीय कुकर्मों के विनाश के लिए हुआ है। यह शौर्य-मानव धर्म की स्थापना के लिए मानव-हित, मानव-मंगल के लिए प्रयुक्त हुआ है और यह इस ग्रंथ की एक विशिष्ट उपलब्धि है।

वस्तुतः, भाई सन्तोखसिंह ने सर्वत्र गुरुओं की ऐतिहासिक कथा के माध्यम से नवीन राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का उद्घाटन करते हुए मानववादी एवं मानवतावादी दर्शन का प्रतिपादन किया है। उन्होंने अपने काव्य में ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, काम, क्रोध, लालसा जैसी कुत्सित मनोवृत्तियों का निषेध करके दया, प्रेम, त्याग, परोपकार, करुणा, सन्तोष, संयम, सेवा, सत्संगति, सत्कर्म, समता, ममता आदि सद्वृत्तियों के विकास पर बल दिया और मानवतावादी उदात्त मनोवृत्तियों के प्रति आस्था प्रकट की है।

इस प्रकार भाई सन्तोखसिंह और उनके पूर्ववर्ती इन कवियों ने अपने उपर्युक्त प्रबंधकाव्यों में अनेकानेक प्रसंगों, संदर्भों, उपदेशों, संवादों, चरित्रों, क्रिया-कलापों, उद्धरणों, कथाओं, घटनाओं, रूपकों आदि के माध्यम से सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक सभी स्तरों पर मानवीय स्वतन्त्रता, मानव-प्रेम तथा मानव-मंगल से सम्बन्धित उच्च, उदात्त, स्पृहणीय मानवतावादी मूल्यों की व्यावहारिक स्तर पर सक्रियता एवं समर्थता से स्थापना की है और इनको ग्रहण करने के लिए सामान्य जन को प्रेरित और प्रोत्साहित किया है। उस सामन्तीय युग के सन्दर्भ में इन प्रबन्धकाव्यों का यह 'मानवतावाद' एक विशिष्ट एवं उल्लेखनीय उपलब्धि है, जिसका उस युग के 'रीतिकाव्य' में सर्वथा अभाव है।

हिन्दू-सिक्ख एकता

'मानवतावाद' के सन्दर्भ में गुरुओं के जीवन पर आधारित इन सभी प्रबन्धकाव्यों में हिन्दुओं और सिक्खों की एकता का भी बड़ी दृढ़ता से प्रतिपादन किया गया है। 'बचित्र नाटक' में स्वयं गुरु गोबिन्दसिंह ने अपने को, सोढी वंश को, सूर्यवंशी कहा है और उसे राम और लव-कुश की परम्परा से जोड़ा है।

गुरु गोबिन्दसिंह के दरबारी कवियों ने और परवर्ती प्रबन्धकारों ने गुरुओं को हिन्दूपति, हिन्दूपति सुल्तान, हिन्दुओं के आसरा, हिन्दुओं की लाज और हिन्दुओं के रक्षक कहा है। भाई सन्तोख सिंह ने यहाँ तक भी कहा है कि जो हिन्दू होकर गुरुओं का उपकार नहीं मानता उससे बड़ा पापी और कृतघ्न और कौन हो सकता है? इन सभी ग्रन्थों में गुरुओं को हिन्दू धर्म के रक्षक और उन्नायक के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। उनके आध्यात्मिक विचार, सांस्कृतिक एवं धार्मिक विश्वास, संस्कार, सामाजिक रीति-नीति, मान्यताएँ और नैतिक मूल्य एक से हैं। गुरुओं के जीवन पर आधारित होते हुए भी इनमें

'रामायण', 'महाभारत' और अनेक पुराणों की कथाएँ समाविष्ट हैं जो गुरु अपने उपदेशों में उद्धृत करते हैं। कवियों ने मंगलाचरणों के अन्तर्गत गुरुओं के अतिरिक्त सरस्वती, गणेश तथा विभिन्न देवी-देवताओं, ऋषि-मुनियों आदि की वन्दना में भी मंगलाचरण लिखे हैं। 'गुरुनानक प्रकाश' में देवी, विष्णु, शिव आदि के स्तुति अष्टक भी आये हैं। यहाँ गुरुनानक को भी विष्णु एवं शिव रूप में प्रस्तुत किया गया है और कहीं-कहीं विष्णु, शिव और ब्रह्मा को उनके जन्म और मृत्यु के समय वहाँ पधारते दिखाया गया है। इन कवियों ने एक ओर अपने प्रबन्ध काव्य में हिन्दुओं की पौरोणिक कथाओं का उपयोग किया; दूसरी ओर गुरुओं के चरित्र और उससे सम्बन्धित अनेक घटनाओं को पौराणिक रूप में प्रस्तुत किया और गुरुओं को अवतार के रूप में प्रकट किया।

गुरुओं को राम और कृष्ण के साथ अभिन्न भी दिखाया गया है। अनेक स्थानों पर कहा गया है कि गुरुजी सभा में या पिता जी की गोद में राम के समान विराजमान है अथवा वे भगवान शंकर के समान लगते हैं। 'गुरु प्रताप सूरज' में एक प्रसंग में कहा गया है कि गुरु गोबिन्दसिंह ने अपनी वृन्दावन यात्रा में उन सभी स्थानों को देखा जहाँ कृष्ण के रूप में उन्होंने अनेक लीलाएँ की थीं। वस्तुतः, इन कवियों ने अपने युग के परिवेश के सन्दर्भ में हिन्दू धर्म एवं सिक्खमत का समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया और साथ ही सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्तर पर हिन्दुओं एवं सिक्खों की एकता एवं अभिन्नता का भी प्रतिपादन किया।

3

'श्री गुरु ग्रंथ साहब' में संकलित भक्तवाणी के सन्दर्भ में– गुरु नानक और कबीर की समकालीनता और सम्बन्ध : कुछ प्रश्न

'गुरु ग्रन्थ साहब' एक महान् एवं पवित्र आध्यात्मिक ग्रन्थ है जिसमें गुरुओं की वाणी के अतिरिक्त रामानन्द, कबीर, रविदास, सैणा, पीपा, धन्ना, नामदेव, त्रिलोचन, जैदेव, बेणी, परमानन्द, सूरदास, सदना, भीखन, मीराबाई आदि 15 भक्तों तथा अनेक सिक्ख-सेवकों एवं भट्टों आदि की वाणी संकलित है। 'गुरु-ग्रन्थ साहब' में सम्मिलित भक्तों की वाणी को भी 'गुरु वाणी' के समान ही आदर दिया जाता है। यद्यपि उनमें से कुछ ऐसे भक्त भी हैं, जो सगुण भक्ति की परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं और गुरुमत से उनके विचार नहीं मिलते। ऐसी स्थिति में भक्तों की वाणी को 'गुरु ग्रन्थ साहब' में क्यों स्थान दिया गया, यह सिक्ख-परम्परा और अन्य विद्वानों में चर्चा का विषय रहा है तथा इससे अनेक भ्रान्तियाँ भी उत्पन्न हुई हैं।

'श्रीमद्भागवद् महात्म्य' में भक्ति के उद्भव और विकास की ओर सकेत करते हुए कहा गया है—

> "मैं द्रविड़ में उत्पन्न हुई, कर्नाटक में बढ़ी, कभी-कभी महाराष्ट्र में मेरा पोषण हुआ, गुर्जर में जीर्ण हो गयी, वहाँ घोर कलि के कारण खण्डितांग हो गयी। दुर्बलता को प्राप्त हो पुत्रों सहित धीरे-धीरे वृन्दावन में आयी, जहाँ मैं सुन्दर रूप प्राप्त कर युवती हो गयी और अब उत्कृष्ट रूप वाली हूँ।"
>
> (श्रीमद्भागवद् महात्म्य, अध्याय 1, श्लोक 48-50)

भक्तों की वाणी को 'गुरु ग्रन्थ साहब' में स्थान क्यों दिया गया? यह अत्याधिक विवाद का विषय रहा है। विरोधी पक्ष के मतों का समाहार करते हुए निम्नलिखित चार आरोपों को प्रस्तुत किया जाता है।[1]

1. भक्तों की वाणी में परस्पर विरोधी भाव हैं।
2. भक्त ऐसे कर्मकाण्डों का पालन करते हैं जिनका गुरु वाणी में विरोध किया गया है।

---

1. दृष्टव्य : ज्ञानी गुरदित सिंह : इतिहास गुरु ग्रन्थ साहब, भाग 1, पृ० 463

3. भक्तों ने जाति-पाति के विविध क्रिया-कलापों का उल्लेख किया है, जो उनकी जाति-पाति सम्बन्धी दृष्टि को प्रस्तुत करता है और सिक्ख-समाज को वर्णानुसार कर्मों में विभाजन की प्रेरणा देता है।

4. भक्तों की वाणी में अवतार-उपासना विद्यमान है। मूर्ति-पूजा भी है, जबकि गुरुमत निराकार की भक्ति का पोषक है।

भक्तों की वाणी को 'गुरु ग्रन्थ साहब' में शामिल करने के सम्बन्ध में 'महिमा प्रकाश', 'गुरु विलास पातसाही : 6', 'गुरु प्रताप सूरज' आदि ग्रन्थों में विस्तृत विवरण उपलब्ध है। 'पं० करतार सिंह', 'ज्ञानी ज्ञान सिंह', 'भाई वीर सिंह' आदि विद्वानों ने भी अपने मत विस्तार से प्रस्तुत किये हैं। ज्ञानी गुरदित सिंह ने उनकी तार्किक समीक्षा की है तथा इस विषय का उपसंहार करते हुए भाई वीर सिंह के विशिष्ट मत को उद्धृत किया है जो इस प्रकार है—

'गुरु नानक देव जी ने विश्व को यह सुमति प्रदान की कि अलग-अलग मतों अथवा धर्मों के लोग परस्पर विरोध न करें। धर्म क्या है और द्वेष क्या है ? यह समझाया। आपने यह भी स्पष्ट किया कि प्रत्येक मत में से सत्य ग्रहण करो। किसी भी मत के साधकों को बुरा न कहो। अपने धर्म पर दृढ़ रहो। अपने इष्टदेव से प्रेम करो तथा उसकी शिक्षा, उपदेश वाणी तथा ध्यान का प्रेमपूर्वक आश्रय लेकर अपने मन को एकाग्र करो।"[1] वस्तुतः, इसी आधार पर गुरु साहब ने हिन्दू, मुसलमान, वैष्णव, सूफी आदि हर श्रेष्ठ पुरुष की वाणी को 'गुरु ग्रन्थ साहब' में स्थान दिया। चाहे वह किसी भी मत से सम्बन्धित रहा हो, अन्त में उसने निर्गुण प्रभु की प्राप्ति को ही श्रेष्ठ माना है।"

भक्तों की वाणी से सम्बन्धित कुछ अन्य ऐसे मुद्दे हैं जो काफी समय से विवाद का विषय बने हुए हैं। जैसे—

1. पहला निर्गुणवादी कौन था ?
2. नानक से कबीर की भेंट हुई अथवा नहीं ?
3. नानक ने कबीर को प्रभावित किया अथवा नानक कबीर से प्रभावित हुए थे ?
4. गुरु नानक की रविदास से भेंट।
5. कबीर और नानक देव का समय।
6. नामदेव का गुरु नानक एवं रविदास पर प्रभाव।
7. कबीर आरम्भ से निर्गुणवादी थे या सगुणवादी अथका अवतारपरस्त थे ?

गुरु नानक तथा कबीर का पारस्परिक सम्बन्ध एक ऐसा ज्वलन्त विषय है जिस पर अनेक विद्वानों ने विचार किया है। 'गुरु ग्रन्थ साहिब' में कबीर की वाणी को काफी महत्व दिया गया है। इस विषय से सम्बन्धित अनेक पक्षों की मीमांसा अपेक्षित है। मुख्य विषय हैं—

1. कबीर जी कब हुए (उनका समय)
2. गुरु नानक और कबीर की भेंट के प्रमाण

---

1. दृष्टव्य : ज्ञानी गुरदित सिंह : इतिहास गुरु ग्रन्थ साहब, भाग-1, पृ० 469

3. गुरु नानक और कबीर के विचारों की समस्या
4. कबीर पर गुरु नानक का प्रभाव और कबीर पर भाषायी प्रभाव
5. कबीर पर गुरु नानक के प्रभाव के अन्तःसाक्ष्य से प्रमाण
6. कबीर पर गुरु नानक के समदर्शी प्रभाव
7. कबीर जी की पदवी के सम्बन्ध में गुरु वाणी के सन्दर्भ
8. कबीर-पंथियों तथा अन्यों के भ्रामक मत

ज्ञानी गुरुदित ने अपनी पुस्तक 'इतिहास गुरु ग्रन्थ साहब' में इन सभी विषयों की शोधपरक एवं विद्वत्तापूर्ण मीमांसा की है,[1] जो बहुत महत्वपूर्ण है।

वस्तुतः, गुरु नानक तथा कबीर भारत के मध्ययुगीन सांस्कृतिक इतिहास की ऐसी विभूतियाँ हैं, जिन्होंने न सिर्फ अपने युग में ही जन-जीबन को नया आलोक, स्फूर्ति एवं दिशा दी, वरन् आज भी वे लोक-चेतना को प्रभावित कर रहे हैं। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व का अध्ययन एवं मूल्यांकन अनेक कोणों से बड़ी विशदता एवं गम्भीरता से हुआ है। कबीर तथा गुरु नानक के सम्बन्ध में उनके मतावलम्बियों द्वारा 'सायिखों' एवं 'काव्य-रचनाओं' आदि के रूप में जो भी इतिवृत चित्रित हुए हैं, हम न तो उन सभी को यथार्थ सत्य मान सकते हैं और न ही उनकी सर्वथा उपेक्षा कर सकते हैं, क्योंकि ऐसे प्रसंग ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही सत्य न हों, तो भी उनमे इनकी लोकप्रियता एवं प्रभाव तो उजागर होता ही है।

आज साहित्य-समीक्षा के क्षेत्र में प्राचीन शास्त्रीय मान्यताओं को नकारा जा रहा है और नयी युवा पीढ़ी सभी स्थापित मूल्यों, विश्वासों और आस्थाओं के विरुद्ध विद्रोही आवाज उठाकर मध्ययुग की सम्पूर्ण साहित्य साधना को फिजूल और निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास कर रही है। इधर कुछ वर्षों से 'भोगे हुए यथार्थ', 'अनुभूति की प्रामाणिकता' अथवा 'स्थिति को जीने' आदि की भी बड़ी चर्चा रही है और कुछ लोग अंग्रेजी-साहित्य की नकल पर 'आधुनिकता' अथवा 'आधुनिक बोध' का डंका बजाकर लोगों को चौंकाने की चेष्टा कर रहे हैं। वे अंग्रेजी पुस्तकों के आधार पर 'आधुनिकता' की नयी-नयी व्याख्याएँ प्रस्तुत करके पुण्य कमाना चाहते हैं और यह मिथ्याभिमान पाल रहे हैं कि समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने एक नये क्षितिज का उद्घाटन किया है—शायद आकाश ही नया दिया है।

इन लोगों का कहना है कि आज के वैज्ञानिक युग में नये परिवेश से उपजी नयी चुनौतियों का, नये प्रश्नों की निरन्तरता का वैज्ञानिक दृष्टि से साहस के साथ सामना करना ही रचना की सार्थकता है। वैसे, वास्तविक स्थिति यह है कि आज के साहित्य में मूल्यहीनता, अनास्था, अविश्वास, शंका-सन्देह आदि की प्रवृत्तियों को ही कुछ लोग 'आधुनिकता' समझते हैं, और शेष सब कुछ 'मध्ययुगीन बोध' का बासीपन नजर आता है। लेकिन, वे यह भूल जाते हैं कि युग की चुनौतियों का सामना करने का साहस कबीर

---

3. दृष्टव्य : ज्ञानी गुरदित सिंह : इतिहास गुरु ग्रन्थ साहब, पृ० 46-54; 82-95, 55-61, 96-111, 122-124, 125-128, 129-134, 135-139, 140-165

में भी था और गुरु नानक में भी, और आज की कम-से-कम उस 'युवा पीढ़ी' से कहीं अधिक था जो 'विद्रोह की मुद्रा' धारण कर 'पुरुष-स्त्री सम्बन्धों' के बेधड़क, अमर्यादित, अनैतिकतापूर्ण चित्रण को ही 'आधुनिक बोध' के लेबिल से 'खोटे सिक्के' की तरह चलाना चाहती है। कबीर एवं गुरु नानक का विद्रोह तो कहीं अधिक व्यापक स्तर पर था, कहीं अधिक साहसपूर्ण और जोखिम-भरा था, कहीं सहनीय था। वे तो अपने युग की सभी सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक विकृतियों से जूझे थे, अत: 'आधुनिक बोध' उनमें भी था। अन्तर केवल इतना था कि वे युग में प्रचलित अनैतिकता, अन्याय, अनास्था और अविश्वास अथवा अन्धविश्वास आदि की चुनौतियों का साहसपूर्वक मुकाबला करके नैतिकता, न्याय, आस्था और विश्वास की स्थापना करना चाहते थे और आज का 'आधुनिकताधर्मी लेखक नैतिकता के स्थान पर अनैतिकता, मूल्यों के स्थान पर मूल्य-हीनता और आस्था के स्थान पर अनास्था की स्थापना को ही 'आधुनिक बोध' की संज्ञा देकर अपने को गौरवान्वित करना चाहता है। शायद 'हर उगते हुए सूर्य को गाली देना' ही उनकी 'आधुनिकता' का दर्पन है।

साहित्य-सृजन की प्रक्रिया में रचनाकार की संवेदनाओं, संस्कारों, परिवेश मान्यताओं आदि की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। कबीर तथा गुरु नानक दोनों के व्यक्तिगत जीवन की अनुभूतियों से उनकी काव्य-चेतना के अन्तर को बखूबी समझा जा सकता है।

कबीर के जन्म के सम्बन्ध में सामान्य धारणा यही है कि वे एक विधवा ब्राह्मणी के उदर से जन्मे थे और नीरू-नीमा नाम के जुलाहा दम्पत्ति ने उनका पालन-पोषण किया था। काशी जैसी 'सभ्य' नगरी में उन्हें आजीवन कुलीन ब्राह्मणों और सम्भवत: कुलीन मुसलमानों से भी किस प्रकार की उपेक्षा, तिरस्कार एवं घृणा का सामना करना पड़ा होगा, इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। उसने उनके व्यक्तित्व में यदि कटुता, तीखापन और क्षोभ भर दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। उनके स्वभाव का अक्खड़पन एवं प्रचण्डता तथा उनकी 'विद्रोही मुद्रा' उनके परिवेश से उत्पन्न अनुभवों की ही देन कहे जा सकते हैं।

'जीवन में भोगे हुए' इस कटु यथार्थ में उत्पन्न घृणा, असन्तोष एवं क्षोभ का उदात्तीकृत स्वर ही उनकी वाणी में सामाजिक एवं धार्मिक मिथ्याचारों, पाखण्डों, आडम्बरों, कुरीतियों आदि के खण्डन के रूप में व्यक्त हुआ है। अपने युग की दूषित सामाजिक एवं धार्मिक अवस्था से उन्हें स्वयं दो-चार होना पड़ा था, उन्होंने उसकी यातना और अभिशाप को स्वयं झेला था, इसीलिए उनकी अनुभूति में इतनी प्रामाणिकता है और अभिव्यक्ति इतनी सशक्त, तीक्ष्ण एवं तीव्र है। उनके व्यंग्यात्मक प्रहार इतने निर्मम और कठोर होते थे कि उनसे दूषित संस्थाओं के सत्ताधीश तिलमिला उठते थे।

इसके विपरीत गुरु नानक का जन्म एक कुलीन, प्रतिष्ठित एवं अपेक्षाकृत सम्पन्न परिवार में हुआ था। उनका पालन-पोषण भी स्नेह एवं संतोष के वातावरण में हुआ। पिता की डांट-फटकार यदि कभी मिलती थी—तो स्नेह और हितभावना से ही। अपने समाज में भी उनकी यथोचित प्रतिष्ठा थी। कहीं भी निरादर, तिरस्कार या असंतोष का कारण

नहीं था। गुरु नानक के संबंध में 'विविध साखियों' या काव्य-रचनाओं (यथा 'गुरु नानक प्रकाश', 'गुरुनानक विजय', 'महिमा-प्रकाश' आदि) में जो भी विवरण मिलते हैं, उनमें आरम्भ से ही उनका एक निर्लेप-अनासक्त, शान्त-विरक्त योगी एवं प्रभु-प्रेमी संत का सा चित्र उभरता है। उनके चरित्र में एक विलक्षण कोमलता, स्निग्धता, स्पृहणीयता, सौम्यता एवं संतोष है। कहीं कोई उद्विग्नता नहीं, कोई आक्रोश या क्षोभ नहीं। किसी भी व्यक्तिगत कारण से न वे दुःखी हैं, न उनको क्लेश है, न क्रोध, न विक्षोभ और न ही विरोध। यदि वे कहीं दुःखी दिखाई देते हैं तो मनुष्य की विश्वव्यापी यातना से, उसकी अभिशप्त नियति से।

यही कारण है कि उनकी वाणी में कहीं भी कबीर की भांति रूखापन, तीक्षणता, कटुता अथवा कठोरता दिखाई नहीं देती। धार्मिक एवं सामाजिक विसंगतियों-विकृतियों की निरर्थकता का निरूपण उन्होंने भी बड़े विस्तार से किया है और उनके निराकरण का भी सशक्त प्रयास किया है, किन्तु ऐसा करते समय वे कहीं भी कबीर-जैसी कटुव्यंग्योक्तियों के निर्मम प्रहार नहीं करते। वरन्, अत्यन्त सहज भाव से मिथ्याचारों की निष्फलता एवं निरर्थकता का प्रतिपादन करके सही मार्ग का निर्देश करते हैं। सच्चा योगी कौन है, सच्चा मुल्ला अथवा सूफी कौन है? सच्ची संमान और आरती क्या होती है? मस्जिद और मक्का से क्या अभिप्राय है? गुरु नानक ने इनके सही आध्यात्मिक स्वरूप को समझाने की चेष्टा की है। सच्चे योगी के लिए संतोष मुद्रा है, प्रतिष्ठा झोली, ब्रह्म-ध्यान विभूति, पवित्र शरीर खिथा, युक्ति और विश्वास डंडा है। सच्चे मुसलमान के लिए दया मस्जिद है, श्रद्धा मुल्ला, हक की कमाई कुरान, लज्जा सुन्नत, शील रोजा, सच्चाई पीर तथा सत्यकर्म कलमा है। सच्चे भक्त के लिए आकाश आरती का थाल है, सूर्य-चन्द्र, दीपक, तारे मोती, मलय चंदन की सुगन्ध धूप, वायु चंवर तथा वन के सभी पुष्प फूल हैं।

उन्होंने जीवन के प्रत्येक आचरण में धर्म के वास्तविक स्वरूप-सत्य—की प्रतिष्ठा कर सभी को उनका सही कर्म बताया है। उनका मत था कि सत्य-आचरण ही धर्म की सही पहचान है। 'किसान कैसा होना चाहिए?' 'सौदागर' का सही कर्म क्या है? सच्चा 'नौकर' कौन है और 'सुलतान' कैसा होना चाहिए?—इन सभी का निरूपण उन्होंने बड़े ही विलक्षण ढंग से किया है। उन्होंने बताया कि मस्तिष्क किसान है, शुभ कर्म खेती है, शरीर खेत है और नाम ही बीज है। इसी प्रकार ईश्वर में विश्वास रखकर निष्ठा से अपना कर्म करना ही सच्ची 'नौकरी' है। 'कथा-श्रवण' का व्यापार, सत्य के घोड़े पर चढ़कर करना ही सच्चे 'सौदागर' का कृत्य कर्म है। इस प्रकार गुरु नानक ने खण्डनात्मक प्रवृत्ति की अपेक्षा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सही मूल्य की पहचान करने और जीवन के प्रत्येक व्यवहार, कृत्य या आचरण को आध्यात्मिक, नैतिक अथवा मानवीय आधार प्रदान किया और व्यक्ति और समाज के लिए एक प्रकार की आचार-संहिता प्रस्तुत की।

ऐसे स्थलों पर कबीर की वाणी एक तेज छुरी है जो अन्तर में तीखी उतरती चली जाती है और कई बार घाव को और भी गहरा करने की संभावना रखती है, जबकि नानक की वाणी व्रण पर मरहम लगाकर ही उसे साफ करने की क्षमता रखती है।

गुरु नानक के जीवन पर आधारित कुछ महाकाव्यों में उनका जन्म कार्तिकी

पूर्णिमा को माना गया है। निःसन्देह, उनकी वाणी और स्वभाव में शरतपूर्णिमा की सी मनोहारी शीतला और स्निग्धता है। कबीर का जन्म ज्येष्ठ की पूर्णिमा को माना जाता है जो उनके स्वभाव और वाणी की प्रचण्डता एवं कोमलता के समन्वय का परिचायक है। धार्मिक मिथ्याचारों एवं बाह्याचारों पर प्रहार करते समय गुरु गोबिन्दसिंह ने भी कबीर की भांति तीखे व्यंग्यों एवं प्रखर तर्कों से काम लिया है। मिथ्याचारों और पाखण्डी साधकों के लिए उन्होंने गदहे, सूअर, बंदर, बकरे, बिल्ली, बिच्छू, भूत, मोर, वृक्ष, सर्प, जोंक आदि विशेषणों का प्रयोग किया (अकाल अस्तुति) है। उनके समय की राजनैतिक परिस्थितियों ने उनके चित्त में जिस क्षोभ और विरोध को उत्पन्न किया था, वह उनकी सभी रचनाओं में देखा जा सकता है। उनके काव्य में भक्ति एवं शक्ति का अद्‌भुत समन्वय हुआ है।

गुरु नानक और कबीर काफी समय तक समकालीन रहे। कुछ विद्वानों का मत है कि उनकी भेंट भी हुई थी। सरदार गुरदित जी का कहना है कि कबीर गुरु नानक से बहुत प्रभावित हुए थे और 'वैष्णवी' कबीर को निर्गुण का उपासक बनाने का श्रेय भी गुरु नानक को ही है। अतः, इतना तो स्वीकारना ही पड़ेगा कि ये दोनों ही व्यक्ति परम संत एवं निष्ठावान् भक्त थे। दोनों ही निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे और उनकी धार्मिक भावना एवं भक्ति-पद्धति में पर्याप्त समानता थी।

दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन को उत्तर भारत में लाने का श्रेय रामानंद को ही दिया जाता है। लेकिन, उसे युग-परिस्थितियों के अनुरूप नवीन रूप देकर तीव्रता से प्रसारित करने में कबीर तथा गुरु नानक ने महत्वपूर्ण योगदान दिया। जिस प्रकार दक्षिण के आलावार भक्तों ने घूम-घूमकर अपनी संगीत-माधुरी से वैष्णव भक्ति को एक आन्दोलन का रूप दिया था, ठीक उसी प्रकार कबीर तथा नानक ने भी स्थान-स्थान पर जाकर संगीत की स्वर-माधुरी का सहारा लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया और भक्ति-आन्दोलन को समस्त उत्तर भारत में, एक जन-आन्दोलन का रूप प्रदान किया। गुरु नानक ने उस युग में प्रचलित प्रायः सभी धर्मों, मतों, सम्प्रदायों आदि के प्रमुख धर्म-स्थानों पर जा-जाकर उनके धर्म-गुरुओं, पंडितों, साधकों-अनुयायियों आदि से धर्म-चर्चा की तथा उन्हें अपने सिद्धान्तों एवं भक्ति-पद्धति से प्रभावित किया। वस्तुतः, ये दोनों ही सही अर्थों में अपने युग के जन-नायक थे, तथापि गुरु नानक की काव्य-चेतना का क्षेत्र कबीर की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक था। कबीर ने प्रायः अपने युग की धार्मिक एवं सामाजिक स्थितियों पर ही अपनी प्रतिक्रियाएँ व्यक्त कीं, जबकि गुरु नानक ने अपने युग की राजनैतिक दशा का भी यथार्थ चित्रण किया और एक नई राजनैतिक चेतना को जन्म दिया।

यद्यपि कबीर को सिकन्दर लोधी से अनेक कष्ट सहने पड़े थे और उन्होंने भगवान् को अपने भक्त की रक्षा करने के लिए धन्यवाद भी दिया, किन्तु सिकन्दर लोधी या अन्य किसी समसामयिक शासक के आतंक और अत्याचार के प्रति उन्होंने एक शब्द भी नहीं कहा। इसके विपरीत गुरु नानक ने राजाओं, मुकद्दमों, सुलतानों आदि की निरंकुशता, स्वेच्छाचारिता एवं अत्याचारों के प्रति तीव्र असंतोष प्रकट किया। उन्हें

'सिंह' और 'कुत्ते' कहकर उनकी पाश्विक वृत्ति की भर्त्सना की और उनके अमानुषिक कृत्यों के प्रति घृणा उत्पन्न की। ऐमनाबाद में बाबर ने निरीह जनता पर जो अत्याचार किये, उसकी भी उन्होंने तीव्र आलोचना एवं निन्दा की। उन्होंने इन आक्रमणकारियों अथवा अन्य शासकों के अत्याचारों के प्रति जो क्षोभ प्रकट किया, उसने एक नई राजनैतिक चेतना का स्फुरण किया, जिसने आगे चलकर गुरु गोबिन्दसिंह के समय में उनके विरुद्ध खुले विरोध का रूप धारण किया। 'हकु पराइआ नानका उस सूअर उस गाई' तथा 'जे रतु लागे कापड़े मैला होए पलीतु', 'जे रतु पीवे माणसा किउँ कर निरमलु चीतु' आदि पंक्तियों में गुरु नानक ने आर्थिक शोषण का भी विरोध किया है जबकि कबीर में इसका अभाव है। सामाजिक विषमता का निषेध एवं मानवीय समानता का निरूपण दोनों ने ही समान रूप से किया है।

परमात्मा के प्रति अपने प्रणय-भाव को दोनों ने ही निष्ठापूर्वक व्यक्त किया है। किन्तु, प्रभु की महिमा, उसके विराट् सौन्दर्य एवं प्रभुता आदि का वर्णन नानक में कबीर से कहीं अधिक मिलता है। ईश्वर के प्रति प्रणयानुभूति एवं विरहासक्ति कबीर में भी है, किन्तु प्रभु-प्रेम की तन्मयता, दैन्य एवं आत्म-समर्पण का भाव नानक में कबीर से अधिक मात्रा में है। गुरु नानक ने मछली-नीर, चकवी-सूर, चातक-मेह आदि प्रेम-प्रतीकों के माध्यम से अपने प्रभु-प्रेम, मिलानुभूति तथा विरहाकुलता आदि का वर्णन बड़ी मार्मिकता से किया है। कबीर की रहस्यात्मक शब्दावली (विशेषतः उलटवासियाँ) बहुत ही जटिल एवं दुरुह है; जबकि नानक ने अत्यन्त सहजता एवं सरलता से अपनी साधना-पद्धति एवं रहस्यानुभूति को प्रकट किया है।

'नाम-स्मरण' को दोनों ने महत्व दिया है, किन्तु नाम की महिमा का वर्णन नानक ने कहीं अधिक विशदता से किया है। (जेता कीता तेता नाउ। विणु नामै नाही को थाउ) 'प्रभु की कृपा' एवं 'कीर्तन' को भी नानक ने कबीर से अधिक महत्व दिया है।

'लौकिक एषणाओं' पर विजय प्राप्त करने की बात दोनों ने की है, किन्तु नानक ने उनका वर्णन अधिक विस्तार एवं स्पष्टता से किया है। प्रभु-भक्ति के लिए अहंकार-त्याग का महत्त्व भी दोनों ने स्वीकार किया है, किन्तु अहंकार तत्व (हउमै) के स्वरूप, भेद, कारण, परिणाम एवं त्याग के उपायों आदि का जितना विशद एवं व्यवस्थित निरूपण नानक ने किया है, कबीर में नहीं मिलता।

इसी प्रकार आध्यात्मिक साधनों में 'सेवा' का जितना महत्व नानक ने बताया है, कबीर ने नहीं बताया। सेवा, वंड खाणा, हउमै-त्याग गुरु नानक की साधना-पद्धति के अनिवार्य तत्व हैं। 'सेवा' से मनुष्य तन की शक्ति एवं सुन्दरता तथा कुल अथवा वैभव आदि के अहंकार से मुक्त होकर दैन्य-भाव को प्राप्त करता है, जिससे प्रभु-भक्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

नानक ने (परमात्मा के) 'हुकम' को भी अत्यधिक महत्व दिया है जबकि कबीर में इसका उल्लेख नहीं है। 'हुकम' तत्व का निरूपण नानक की अपनी विशेषता है—

हुकमि होवनि आकार हुकमु न कहिया जाइ।
हुकम रजाइ चलणा, नानक लिखिआ नालि।
हुकमि होवनि जीअ, हुकमि मिलै बडिआई।

आध्यात्मिक साधना के लिए मानवीय चेतना का परिष्कार आवश्यक है, और उसके लिए सत्य, ज्ञान, संयम, संतोष, सत्संगति आदि के महत्व का प्रतिपादन गुरु नानक तथा कबीर दोनों ने समान रूप से किया है।

दोनों साधकों ने 'सहज समाधि' पर अत्यधिक बल दिया है। गुरु नानक के अनुसार अन्तर्मन में प्रभु का समा जाना ही 'सहज समाधि' है—

जाके अंतर बसै प्रभु आइ।
नानक ते जन सहजि समाति।

इस तरह इन दोनों साधकों की अनेक दृष्टियों से तुलना की जा सकती है, और इस तुलना में कई दृष्टियों से नानक कबीर के अग्रणी एवं अधिक प्रभावी दिखाई पड़ते हैं। "इतिहास श्री गुरु ग्रंथ साहब" में भाई गुरुदास, राम प्रसाद त्रिपाठी, राम कुमार वर्मा, गोविन्द त्रिगुणायत, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्याम सुन्दर दास, गंगा शरण, चन्द्रवली पांडेय आदि विद्वानों तथा 'गुरु ग्रंथ साहब', 'परिचआ आनन्द दास', 'हिन्दी साहित्य का बृहद् इतिहास' (नागरी प्रचारिणी सभा), 'सर्वे आफ इंडिया', 'कबीर ग्रंथावली', 'कबीर दर्शन', 'कबीर-मंसूर', 'बीजक', 'कबीर चरित्र' श्री हरिदास महाराज की वाणी, गरीबदास की वाणी आदि ग्रंथों से उद्धरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि 'गुरु नानक तथा कबीर की भेंट हुई थी। कबीर की मृत्यु 1575 वि० में हुई थी और वे 49 वर्षों तक गुरु नानक के समकालीन रहे और गुरु नानक तथा कबीर के मिलने-जुलने का समय 20 वर्षों से अधिक है।[1]

'गुरु ग्रंथ साहब' में संकलित कबीर की वाणी प्राचीन प्रामाणिक उपलब्ध वाणी है। उनकी इसी वाणी के अन्तर्गत कबीर की भक्ति-भावना के स्वरूप, कृष्ण तथा राम के प्रति उनकी आरम्भिक अवतारवादी भक्ति-भावना (9), उनके जीवनवृत से सम्बन्धित अनेक तथ्यों—(कि उनका जन्म काशी में तथा मृत्यु मगहर में ही हुई थी और वे जाति के जुलाहे थे—इत्यादि) का उद्घाटन होता है। अंतः साक्ष्य और बाह्यसाक्ष्यों के आधार पर यह भी सिद्ध होता है कि कबीर को अनेक यातनाएँ दी गई थीं। जंजीरों में जकड़कर गंगा में डाला गया था, अग्नि में फेंका गया था और बंदी गृह में रखा गया था।[2]

कुछ विद्वानों ने इस धारणा का खण्डन किया है कि कबीर आरम्भ से निर्गुणवादी थे। उनका कहना है कि कबीर आरम्भ में सगुणवादी थे, कृष्ण और राम के अवतारी रूप के भक्त थे। वे बाद में निर्गुणवादी बने, जबकि गुरु नानक आरम्भ से ही निर्गुणवादी थे और वस्तुतः वे ही पहले निर्गुणवादी भक्त थे।[3]

---

1. दृष्टव्य : ज्ञानी गुरदित सिंह : इतिहास गुरुग्रन्थ साहब, भाग-1, पृ० 46-54
2. वही, पृष्ठ 56
3. वही,

गुरु नानक कबीर से प्रभावित थे या कबीर गुरु नानक से ? यह भी विद्वानों में विवाद का विषय बना हुआ है। ज्ञानी गुरदित सिंह ने कबीर और गुरु नानक के सम्बन्धों पर विशदता से प्रकाश डालते हुए इन दोनों के अनेक पदों को आमने-सामने रखकर उनकी समानता दिखाई है। लेकिन, इतिहास, धर्मग्रंथों, साहित्यिक कृतियों आदि से अनेक तथ्य देकर प्रमाण और तर्क के आधार पर, युक्तियुक्त रूप में लेखक ने यह भी स्थापना की है कि कबीर गुरु नानक से अनेक रूपों में प्रभावित थे। इस संदर्भ में उन्होंने 'गोशटि गुरु बाबा नानक की गुसाई कबीर जी नाले' को विस्तार से उद्धृत किया है और "नामा छीवा कबीर जोलाहा पूरे गुर ते गति पाई" आदि प्राचीन पदों से अपने मत की पुष्टि की है। यही नहीं, उन्होंने दोनों भक्त-कवियों की भाषा तथा रूपक-योजना आदि से भी अपने मत को उजागर किया है। जो लोग अभी भी यह कहते हैं कि गुरु नानक कबीर से प्रभावित थे और उन्होंने कबीर का अनुसरण किया, उनके इस मत की भर्त्सना करते हुए ज्ञानी गुरदित सिंह लिखते हैं—

> अते साडे सिख विदवान पैर पैर उते गुरु जी नू
> नकलची सिध करन लई झूठीआँ निरअधार कलपना
> घडके सतिगुरु दी नूरी जोति, उसे चिकड़ सुटन
> 'दे कम विच जुटे होए हैन' (पृ० 95)

उनके इन विचारों को एक आस्थावान सिक्ख के श्रद्धाप्रसूत वचन मात्र कहकर टाला नहीं जा सकता क्योंकि लेखक ने अन्तः तथा बाह्य साक्ष्य से बेहद विपुल सामग्री का परीक्षण, विश्लेषण और मीमांसा करके भरे-पूरे तथ्य, प्रमाण, युक्तियाँ देकर अपने मत की स्थापना की है।

कबीर आरम्भ में निर्गुणवादी थे या सगुणवादी, उनके राम एवं कृष्ण अवतार-पुरुष थे या निर्गुण ब्रह्म के प्रतीक ? वे गुरु नानक से प्रभावित थे या गुरु नानक उनसे ? इन विषयों पर अभी भी टीका-टिप्पणी की जा सकती है, विवाद बना रह सकता है, लेकिन इससे कोई इंकार नहीं कर सकता कि जो नई विपुल सामग्री तथा हवाले हमारे सामने आये हैं, उनकी सरलता से उपेक्षा नहीं की जा सकती। ये तथ्य सिक्ख गुरुओं, कबीर तथा अन्य संतों-भक्तों पर शोध करने वाले हिन्दी के विद्वानों के लिए चिन्तन का नया मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

4

समाजवादी चेतना के प्रवर्त्तक : गुरु नानक देव

गुरु नानक का मध्ययुगीन भारतीय चिंतकों, समाज-सुधारकों एवं धर्म-प्रवर्त्तकों में विशिष्ट स्थान है। मूलत: गुरु नानक एक अध्यात्म-निष्ठ साधक थे और उन्होंने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यक्ति को धर्माचरण की सही पहचान देने की चेष्टा की, तथापि एक प्रगतिशील लोकनायक के रूप में उन्होंने एक सामाजिक व्यवस्था की परिकल्पना की है, जिसमें किसी भी व्यक्ति का धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक स्तर पर शोषण न हो सके। मानवीय समानता में उनकी दृढ़ आस्था थी, इसीलिये उन्होंने कहा था, "यहाँ सभी तो अपने सगे-सम्बन्धी हैं, कोई भी तो बाहरी जीव दिखाई नहीं देता' (सभै सांझेवाल सदाहण कोउ न दीसे बाहरा जीउ)। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी गुरु नानक उसी को सच्चा योगी मानते थे जो सभी वर्णों, वर्गों अथवा धर्मों के व्यक्तियों को समानता की दृष्टि से देखता हो--

एक द्रिसटि करि समसरि जाणे जोगी कहिऐ सोई।

गुरु नानक के समय का भारतीय समाज दो वर्गों में विभक्त था। एक शासक वर्ग, दूसरा शासित वर्ग। शासक वर्ग साधन सम्पन्न, अर्थ-सम्पन्न तथा शक्ति-सम्पन्न था। इस वर्ग में शासक-सामन्त तथा राज कर्मचारी आदि आते थे। दूसरे वर्ग में सामान्य एवं निरीह जनता आती थी, जो साधनहीन, अर्थहीन तथा शक्तिहीन थी। इस निरीह वर्ग पर शक्तिशाली सत्ताधारी शासक वर्ग मनमाने अमानुषिक अत्याचार कर रहा था। आतंकित और भयभीत करके उन्हें दिनरात लूट रहा था और सम्भवत: एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं था जो शासक वर्ग के इन अत्याचारों के विरुद्ध आवाज उठा सके। उस समय भारतीय धर्म और संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए तो अनेक मनीषी प्रयत्नशील थे, किन्तु सामाजिक जीवन की असमानता एवं विषमता के प्रति प्राय: उदासीन ही थे। महात्मा कबीर ने जाति-पाति के आधार पर सामाजिक जीवन की विषमता तथा धार्मिक बाह्य-चारों का तो विरोध किया किन्तु शासकों, सामन्तों, जागीरदारों एवं जमीदारों द्वारा समाज के एक बड़े वर्ग का जो शोषण हो रहा था, उसकी प्रतिध्वनि उनकी वाणी में कहीं सुनाई नहीं पड़ती। सम्भवत:, गुरु नानक पहले और अकेले व्यक्ति थे, जिन्होंने

निरीह जनता पर हो रहे अत्याचारों के विरुद्ध अपनी आवाज़ उठाई। अत्याचारी शासक —वर्ग को उन्होंने व्याघ्र और कुत्तों के समान बताकर उनकी भर्त्सना की। उन्होंने कहा कि राजे सिंह के समान हिंसक है और उनके सामन्त कुत्तों के समान लालची है, जो निरीह जनता को बिना किसी कारण पीड़ित कर रहे हैं। उनके नौकर अपने पैरों के नाखूनों से लोगों को जख्मी कर रहे हैं और उनका खून कुत्तों की तरह चाट रहे हैं। जहाँ इनके कर्मों की परख होगी वहाँ इनकी नाक काट ली जाएगी—

राजे सींह मुकद्दम कुत्ते।
जाइ जगाइन बैठे सूते।
चाकर नहंदा पाइन्हि घाउ।
रतु पितु कुतिहा चटि जाहु॥
जिथे जीआं होसी सार।
नकीं बडी लाइत बार।

पैरों के तीखे नाखूनों से लोगों को घायल करने में शोषक वर्ग की नृशंसतापूर्ण प्रकृति का संकेत मिलता है तथा उनके कर्मों की परख होने पर उनकी नाक कटने से गुरु नानक की उनके प्रति आक्रोशपूर्ण प्रतिक्रिया की अभिव्यक्ति हुई है। इन लोगों की यही नियति गुरु नानक को अभीष्ट थी।

गुरु नानक ने देखा था कि सबल निर्बलों को उत्पीड़ित कर रहे थे। उन्हें इससे गहरी व्यथा हुई थी। इसीलिए उन्होंने कहा था कि यदि एक शक्तिशाली दूसरे शक्तिशाली को मारे तो मन में रोष उत्पन्न नहीं होता, किन्तु यदि शक्तिशाली सिंह निरपराध पशुओं के झुण्ड पर आक्रमण कर दे तो उनके स्वामी को कुछ तो पुरुषार्थ दिखाना ही चाहिये—

जे सकता सकते कउ मारे ता मनि रोसु न होई।
सकता सीहुँ मारे पे वगे खसमै सा पुरसाई।

(राग आसा)

यहाँ भी शक्तिशाली सिंह शोषक वर्ग का प्रतीक है और निरपराध पशुओं का झुण्ड निरीह दलित वर्ग का। पुरुषार्थ को दिखाना संघर्ष का आह्वान है।

भारतीय संस्कृति की मूल प्रकृति आध्यात्मिक है। इसीलिए उसमें सांसारिक वैभव एवं ऐश्वर्य के प्रति अलिप्तता का भाव पाया जाता है, तथापि इस बात पर भी बराबर जोर दिया जाता रहा कि ऐश्वर्य का भोग त्याग की भावना से होना चाहिए और किसी के भी धन की इच्छा नहीं करनी चाहिए—

ॐ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्। (इशावास्योपनिषद)

"किसी के धन की इच्छा नहीं करनी चाहिए'—इस कथन में आर्थिक शोषण के विरोध की भावना ही निहित है, जो समाजवादी दृष्टि का संकेत देती है। क्योंकि, दूसरे के धन को प्राप्ति की इच्छा से ही शोषण की प्रक्रिया आरम्भ होती है। दार्शनिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर यह आदर्श सामने होते हुए भी एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के शोषण

की प्रवृत्ति विद्यमान रही है। मध्ययुग में यह प्रवृत्ति और भी अधिक थी क्योंकि यह सामन्तीय युग था। सबल एवं समर्थ सामन्त वर्ग निर्बल और असहाय कृषक—श्रमिक वर्ग का शोषण कर रहा था और इन दोनों वर्गों की विषमता निरन्तर बढ़ती जा रही थी। गुरु नानक ने इस विषमता को तीक्ष्णता से अनुभव किया था। उन्होंने शोषण करने वाले जमींदारों-जागीरदारों और सामन्तों का वैभवपूर्ण एवं विलासमय जीवन भी देखा था और उन किसानों, मजदूरों, तथा छोटे-छोटे कर्मकारों की दयनीय स्थिति भी देखी थी, जिन्हें दिन भर मेहनत करने पर भी भर-पेट भोजन नसीब नहीं होता था। एक के घर में पकवान बनते थे, दूसरे को सूखी रोटी भी उपलब्ध नहीं थी। यह सब इसलिए हो रहा था कि एक वर्ग दूसरे वर्ग का हक छीन रहा था। गुरु नानक दलित वर्ग की इस दयनीय स्थिति से द्रवित हो उठे थे और इसीलिए उन्होंने रोषपूर्ण शब्दों में दूसरों के हक को दबाने की निन्दा करते हुए कहा था।

हकु पराइआ नानका उसु सूअर उसु गाई।

अर्थात्

दूसरों का हक दबाना मुसलमानों के लिए सुअर तथा हिन्दुओं के लिए गाय के मांस के समान है।

गुरु नानक ने इस दीन-हीन शोषित एवं दलित वर्ग के प्रति अपनी गहरी सहानुभूति प्रकट की है और शोषण कर्त्ताओं के प्रति घृणा एवं आक्रोश व्यक्त किया है। गुरु नानक का कहना है कि रक्त लग जाने भर से जामा (वस्त्र) अपवित्र हो जाता है तो दूसरों का खून चूसने वाले लोगों का मन कैसे निर्मल रह सकता है—

जो रतु लगे कपड़ा जामा होई पलीतु।
जो रतु पीवहि भाणसा तिन किउ निरमलु चीतु। (राग माझ)

निश्चय ही गुरु नानक ने शोषण की प्रवृत्ति की खुलकर निन्दा की है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि गुरु नानक ने वैचारिक स्तर पर ही इस प्रकार के प्रगतिशील विचारों का प्रतिपादन नहीं किया, वरन अपने व्यवहार में भी इनका पालन किया। उन्होंने मलिक भागो के पकवानों के निमन्त्रण को ठुकरा कर एक गरीब व्यक्ति भाई लालों की सूखी रोटियों का भोजन सहर्ष स्वीकार किया था। उनके हाथ में लेते ही मलिक भागो के पकवान से खून टपकने लगा था और भाई लालो की रोटियों से दूध की धारा बहने लगी थी। गुरु नानक ने यही सिद्ध किया था कि मलिक भागो के पकवान में निरीह जनता के शोषण का रक्त है और श्रमिक वर्ग के सम्बन्धित भाई लालो की सूखी रोटी में परिश्रम का अमृत प्रवाहित हो रहा है। यह प्रसंग गुरु नानक के समाजवादी चिंतन का एक ज्वलंत उदाहरण प्रस्तुत करता है।

गुरु नानक की मान्यता थी कि ईश्वर भी उन्हीं से प्रसन्न होता है जो निम्न वर्ग के लोगों को गले से लगाते हैं। इसीलिए गुरु नानक ने घोषणा की थी कि जो नीची जाति के हैं, उनमें भी जो नीचे हैं, मैं सदैव उनके साथ हूँ। अपने आप को बड़ा कहने वालों से मेरा क्या वास्ता—

नीचाँ अंदरि नीच जाति नीची हूँ अति नीचु।
नानक तिने के संगि साथि बडिआ सिउं किआ रीस। (राग माझ)

5

सिक्ख धर्म के प्रमुख स्तम्भ : गुरु अर्जुनदेव

गुरु नानक के पश्चात् सिखमत को विकसित एवं सुदृढ़ करने का श्रेय गुरु अर्जुनदेव को है। इसीलिए उन्हें सिखमत का दूसरा स्तम्भ माना जाता है। गुरु अर्जुन देव ने गुरुमत के प्रचार और प्रसार का ही कार्य नहीं किया वरन् सिखमत को अपनी एक अलग पहचान देते हुए उसके संघटन को भी मज़बूत किया। गुरु अर्जुन देव एक सुयोग्य धर्मगुरु ही नहीं थे, वरन् एक **लोकहितकारी** समाज सेवी, निष्ठावान भक्त, मेधावी मनीषी एवं समर्थ कवि भी थे। भाई गुरुदास ने उनकी प्रशंसा में जो कुछ लिखा है वह सर्वथा सार्थक एवं संगत है। वे लिखते हैं—

अरजन काइआ पलट के मूरति हरि गोबिन्द सवारी
दल भंजन गुरु सूरमा बड़ जोधा बहु **परउपकारी**।

गुरु अर्जुनदेव का जन्म 19 बैशाख सम्वत् 1620 (15 अप्रैल, 1563 ई०) को गोइदबाल में हुआ था। उनके पिता श्री रामदास सिक्खों के चौथे गुरु थे और तीसरे गुरु अमरदासजी उनके नाना थे। इसलिए आध्यात्मिक और प्रभु-भक्ति पारिवारिक विरासत के रूप में प्राप्त हुई। वे गुरु रामदास के सबसे छोटे पुत्र थे। प्रिथिचंद और महादेव दोनों उनके बड़े भाई थे। परन्तु, इनके बिनम्र एवं सौम्य स्वभाव, हरिभक्ति में निष्ठा, पितृ-प्रेम एवं गुरु-श्रद्धा, संगठन-क्षमता, गंभीर चिंतनशीलता एवं नैसर्गिक काव्य-प्रतिभा आदि को देखकर गुरु रामदास ने इन्हें ही गुरगद्दी पर प्रतिष्ठित किया। इनके बड़े भाई प्रिथिचंद इसे सहन नहीं कर सके। सत्ता का लोभी प्रिथिचंद ईर्ष्या एवं द्वेषवश जीवन भर इनका प्रबल विरोध करता रहा और उनके अनिष्ट में जुटा रहा। गुरु अर्जुनदेव को संवत् 1636 (सन् 1581) में गुरुता प्राप्त हुई थी, लेकिन प्रिथिचंद उनके गुरु रूप में स्थापित होने में निरन्तर बाधाएँ उपस्थित करता रहा। यही नहीं, उसने उनके पुत्र हरगोबिन्द को मरवाने के भी अनेक प्रयास किए, जिससे उनके पश्चात् गुरुता उसके परिवार में आ सके। अपने इन प्रयत्नों में असफल होने पर उसने लाहौर और दिल्ली के शासकों से मिलकर उनके विरुद्ध षड्यन्त्र किया, जिसके परिणामस्वरूप अन्ततः संवत् 1663 (सन् 1606) में लाहौर के शासक द्वारा अनेक कठोर यातनाएँ देकर उनकी अमानुषिक हत्या कर दी गई

और इस तरह गुरु अर्जुनदेव गुरु-परम्परा के प्रथम शहीद बने।

गुरु अर्जुनदेव की मृत्यु के कारणों के सम्बन्ध में अनेक मत प्रचलित हैं। सिख-परम्परा के अनुसार लाहौर के सूबेदार का एक सरदार चंदूशाह भी उनकी मृत्यु का कारण बना था क्योंकि गुरु अर्जुनदेव ने अपने पुत्र हरगोबिन्द के लिए उसकी कन्या का सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया था। जिससे खिन्न होकर उसने शासकों को उनके विरुद्ध भड़काया। इस घटना का एक राजनैतिक कारण भी माना जाता है और कहा जाता है कि जहाँगीर गुरु अर्जुनदेव से इसलिए रुष्ट था क्योंकि गुरु अर्जुनदेव पर खुसरो की सहायता का आरोप लगाया गया था। कुछ विद्वानों का मत है कि जहाँगीर धार्मिक दृष्टि से अकबर जैसा उदार नहीं था। वह गुरुमत के बढ़ते हुए प्रभाव से बहुत चिंतित था इसलिए वह चाहता था कि या तो गुरु अर्जुनदेव को इस्लाम के प्रभाव के अन्तर्गत ले लिया जाए अन्यथा उन्हें नष्ट कर दिया जाए। 'तुजके जहाँगीरी' से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि गुरु अर्जुनदेव को जहाँगीर की अनुदार, संकुचित एवं असहिष्णु धार्मिक भावना का शिकार होना पड़ा था।

गुरु अर्जुनदेव की शहीदी सिख-इतिहास की एक लोमहर्षक घटना है। उन्हें बन्दी बनाकर जब लाहौर के शासक मुर्तजा खाँ को सौंपा गया, तो वहाँ उन्हें अमानुषिक यातनाएँ दी गईं। उन्हें गर्म सलाखों से जलाया गया। गर्म रेत पर लिटा दिया गया, उबलते हुए पानी और तपते हुए कड़ाहे से तेल डालकर उनके शरीर को जलाया गया। लेकिन, गुरु जी अपने प्रण पर अटल रहे और अपने आदर्शों के लिए अनेक कष्ट सहते हुए शहीदी प्राप्त की। उनका यह बलिदान उनकी नैतिक शक्ति, पवित्र जीवन के प्रति निष्ठा और अदम्य साहस का परिचायक है। इस घटना ने सिख-इतिहास को एक नया मोड़ दिया और उसमें क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए। गुरु अर्जुनदेव ने आत्म बलिदान देकर सिखमत को नया जीवन प्रदान किया और साहस, दृढ़ता, निर्भीकता, संघर्ष और बलिदान की परम्परा को जन्म दिया। उनके पुत्र और गुरुता के उत्तराधिकारी गुरु हरगोबिन्द दो तलवारें धारण करने लगे, जिनमें से एक अध्यात्म की प्रतीक थी, दूसरी शक्ति की और इस तरह सिखमत में अध्यात्म के साथ-साथ शौर्य की परम्परा का प्रवर्त्तन हुआ और शक्ति संघटन की प्रवृत्ति का प्रारम्भ होता है।

गुरु अर्जुनदेव ने सिखमत के सिद्धान्तों के प्रचार के साथ-साथ इसके आध्यात्मिक विचारों एवं सामाजिक आदर्शों को व्यवहार में प्रयुक्त करने पर बल दिया। उन्होंने धर्म-प्रचारार्थ अनेक स्थानों का भ्रमण किया; अनेक लोक-कल्याणकारी कार्य किये; सरोवर, कुएँ, बावलियाँ खुदबाई, नगर बसाये, व्यापार-व्यवासय, कला-शिल्प और कृषि को प्रोत्साहन दिया, मसंदों की नियुक्ति की; धर्मशालाएँ बनवाईं; सिखमत को उसका स्थायी धर्म-ग्रंथ और उपासना केन्द्र प्रदान किया तथा नित्य गुरुवाणी पाठ, कीर्तन और सत्संगति की प्रथा चलाई। इससे सिखमत को एक समुचित व्यवस्था मिली और उसका विधिवत विकास होने लगा। सिखों को अपने धर्माचरण में दृढ़ रहने के संस्कार एवं प्रेरणा मिली। अतः, उनके अनुयायियों की संख्या निरन्तर बढ़ने लगी और सिखमत एक शक्तिशाली सम्प्रदाय के रूप में स्थापित हो गया। इनके समय में पेशावर से दिल्ली तक सिखमत का

प्रभाव था। अमृतसर नगर की संरचना, हरि-मंदिर का निर्माण तथा 'आदिग्रन्थ' का सम्पादन सिखमत को उनकी महत्वपूर्ण देन है, जिनसे सिखमत ने अपनी निजी विशिष्टता और पहचान प्राप्त की। अमृतसर नगर की रचना का कार्य यद्यपि अकबर द्वारा भेंट की गई भूमि पर गुरु रामदास द्वारा आरम्भ किया गया था, किन्तु गुरु अर्जुनदेव ने इस नगर को उन्नत एवं समृद्ध किया और वहाँ अनेक व्यवसायों की व्यवस्था की। अमृतसर में ही 1588 ई० में इन्होंने 'हरि मंदिर' की नींव डाली और इसकी पहली ईंट प्रसिद्ध सूफी फकीर मियाँ मीर से रखवाई गयी, जिससे उनकी धार्मिक उदारता का परिचय मिलता है। 'हरि मंदिर' मानववादी भावना का प्रतीक था। उसके चार द्वार इस तथ्य के द्योतक थे कि यह मंदिर चारों वर्णों के लिये, चारों दिशाओं से खुला हुआ है तथा कर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं योग इन चारों मार्गों से प्रवेश पाकर हरि-भक्ति और प्रभु-प्रेम द्वारा प्रभु को पाया जा सकता है। गुरु अर्जुनदेव द्वारा निर्मित 'हरि-मंदिर' सिक्खों की आस्था और विश्वास का केन्द्र था और उनका मुख्य उपासना स्थान है।

'आदिग्रंथ' सिखमत को गुरु अर्जुनदेव की सबसे महत्वपूर्ण देन है। किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय की स्थायी सत्ता बनाने में उस धर्म के धर्मग्रंथ का विशेष महत्व होता है। सिखमत का ऐसा कोई 'धर्मग्रंथ' पहले से नहीं था। गुरु अर्जुनदेव सिखमत को व्यवस्थित एवं सुदृढ़ करने के लिए अनेक प्रयास कर रहे थे। सिखमत को स्वायत्तता प्रदान करने के लिए उन्होंने एक ऐसे ग्रंथ की रचना का संकल्प किया, जिससे सिखधर्म के सिद्धान्तों का विस्तार से प्रतिपादन हो सके और वह सिक्खों के लिए स्थायी प्रेरणा का स्रोत बन सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अपनी तथा पूर्व गुरूओं की प्रामाणिक वाणी का संकलन करने का निश्चय किया, क्योंकि सिखमत में 'गुरुवाणी को गुरु रूप और गुरु को वाणी रूप' स्वीकार किया गया है। गुरुओं की प्रामाणिक वाणी को अप्रामाणिक वाणी से अलग करके सुरक्षित रखा जा सके, उससे सिखमत के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में सहायता मिल सके। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए उन्होंने भाई गुरदास को यह कार्य सौंपा, जो गुरुवाणी के ज्ञाता, काव्य के पारखी और दर्शन के विद्वान् थे। अमृतसर के निकट एक निर्जन एवं एकान्त स्थान पर 'आदिग्रंथ' के सम्पादन का कार्य आरम्भ किया गया, जोकि 1604 ई० में पूर्ण हुआ। इसके पूर्ण होने पर इसे 'हरि मंदिर' में स्थापित किया गया और बाबा बुढ्ढे को इसका प्रथम ग्रंथी नियुक्त किया गया। इस ग्रंथ की रचना से सिक्खों ने अपार हर्ष, उल्लास और आनन्द प्रकट किया। 'आदिग्रंथ' में गुरु अर्जुनदेव तथा उनसे पूर्व के चार गुरुओं की वाणी के अतिरिक्त 12वीं से 17वीं शती तक के 15 प्रमुख संतों, भक्तों की 11 या 17 भाटों की तथा कुछ अन्य रचनाएँ संकलित हैं। बाद में गुरु गोबिन्दसिंह द्वारा इसमें गुरु तेगबहादुर की वाणी को भी सम्मिलित करके इसे 'गुरु ग्रंथ साहब' का नाम दिया गया और 1708 में उन्होंने गुरु-परम्परा समाप्त करके 'गुरु ग्रंथ साहब' को ही गुरु मानने का आदेश दिया। 'गुरु ग्रंथ साहब' के 1430 पृष्ठ हैं। इसमें सर्वाधिक वाणी गुरु अर्जुनदेव की है और इसमें उनके 2218 पद संकलित हैं।

'आदिग्रंथ' का सम्पादन अत्यन्त जटिल एवं श्रमसाध्य कार्य था। इसकी सबसे

बड़ी समस्या वाणी का संकलन करना और उसकी प्रामाणिकता का निर्धारण करना था। इस सम्बन्ध में कई मत प्रचलित हैं कि गुरु अर्जुनदेव ने पूर्व गुरुओं की वाणी कैसे और कहाँ से प्राप्त की। सिख-परम्परा के अनुसार गुरु अर्जुनदेव ने गुरु-वाणी की एक पाण्डु-लिपि बाबा मोहन से प्राप्त की थी तथा कुछ वाणी गुरु-सिक्खों से सुनकर लिखी थी, जिन्हें कुछ पद स्मरण थे। कुछ विद्वानों का मत है कि पूर्व गुरुओं की वाणी का संकलन उन्हें गुरु-गद्दी के साथ ही प्राप्त हुआ था। उसी के आधार पर उन्होंने यह ग्रंथ तैयार किया। इसी प्रकार संतों की वाणी के संकलन के सम्बन्ध में भी कई धारणाएँ हैं। भाई संतोख सिंह कृत 'गुरु प्रताप सूरज' के अनुसार कबीर, नाम देव आदि संतों ने स्वयं सूक्ष्म रूप में उपस्थित होकर अपनी वाणी लिखवाई थी। मैकालिफ का मत है कि 'विभिन्न संत संप्रदायों के अनुयायियों से संतों की वाणी एकत्रित की गयी थी।' कुछ लोग यह भी मानते हैं कि संतों की वाणी भी उन्हें परम्परागत रूप से पूर्व गुरुओं से प्राप्त हुई थी। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय बात यह है कि यह निर्णय गुरु अर्जुनदेव को ही करना था कि किस-किस संत कवि की वाणी को 'आदिग्रंथ' में स्थान देना है और उनके कौन से पद लेने हैं। 'आदि ग्रंथ' में जयदेव, नामदेव, शेखफरीद, त्रिलोचन, रामानन्द, कबीर, पीपा, सधना, सेन, धन्ना, रविदास, वेणी, परमानन्द, भीखन एवं सूरदास की रचनाएँ संकलित हैं। लेकिन, उनकी सम्पूर्ण वाणी को यहाँ नहीं लिया गया है। किसी संत के तो एक या दो पद ही लिये गये हैं जबकि कुछ के पद पर्याप्त संख्या में आये हैं। जयदेव के 2, त्रिलोचन के 4, रामानन्द साधना, सेन, परमानन्द एवं भीखम का एक-एक, वेणी के 3 तथा धन्ना के केवल 4 पद लिये गये हैं जबकि रविदास के 41, फरीद के पद और श्लोक 134 तथा कबीर के 292 पद और 249 श्लोकों को स्थान दिया गया है। भाटों के भी 123 पद हैं। यह चयन कर पाना सरल नहीं था। इन संतों के जिन पदों को 'आदिग्रंथ' में स्थान दिया गया है, उसके चयन का मुख्य आधार गुरुमत के विचारों से समानता ही हो सकता था और इसके लिये गुरु अर्जुनदेव को कितना विशद अध्ययन और अनुशीलन करना पड़ा होगा, इसका अनुमान लगाना कठिन नहीं है। उनके सम्मुख विपुल सामग्री रही होगी, किन्तु सूक्ष्मता से उसका अनुशीलन करके समुचित एवं उपयोगी सामग्री का ही चयन किया गया।

यहाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि इन कवियों की रचना को अपने 'धर्मग्रंथ' में स्थान देकर गुरु अर्जुनदेव ने अपनी धार्मिक उदारता तथा मानववादी दृष्टि का ज्वंलत उदाहरण प्रस्तुत किया है। इन कवियों में विभिन्न धर्मों, मतों, जातियों, वर्गों एवं क्षेत्रों के लोग सम्मिलित हैं। हिन्दू भी हैं और मुसलमान भी। सूफी भी हैं और वैष्णव भी। निर्गुण धारा के कवि भी हैं और सगुणधारा के भी। ब्राह्मण भी हैं और हरिजन भी। इस रूप में 'आदिग्रंथ' का सम्पादन गुरु अर्जुनदेव की सामाजिक समानता एवं राष्ट्रीय-भावना का भी परिचायक है।

'आदिग्रंथ' का सम्पादन कार्य भी बड़ी कुशलता से वैज्ञानिक पद्धति पर किया गाया है। सम्पूर्ण वाणी को विभिन्न रागों में निबद्ध किया गया है और फिर उन्हें एक विशेष योजना के अन्तर्गत क्रम-व्यवस्था में रखा गया है। समस्त गुरुवाणी क्रमशः सिरी,

माझ, गउडी, आसा, गुजरी, देवगंधरी, बिरड़ा, बड़हरा, सोरठ, धनासरी, जैटसरी, टोडी, बैराडी, तिलंग, सूही, बिलावल, गोड, रामकली, नटनराइण, भाली, गउडा, मारु तुखारी, केदारा, भैरव, बसंत, सारंग, मलार, कानडा, कल्याण एवं प्रभाती इन 30 रागों में विभक्त की गई है। पहले विशिष्ट राग में गुरु नानक (महल्ला-1) की वाणी आती है, फिर क्रमशः दूसरे (महल्ला-2), तीसरे (महल्ला-3), चौथे, (महल्ला-4), पाँचवें (महल्ला-5) एवं नवें गुरु (महल्ला-9) की वाणी रखी गई हैं। उसके पश्चात् सन्तों एवं भक्तों आदि की। आरम्भ सिरी राग से किया गया है जोकि बड़े रागों में सर्वश्रेष्ठ माना गया है और समाप्ति प्रभाती राग से होती है। रागों की व्यवस्था भाव, विषय, मनःस्थिति एवं समय के अनुरूप की गयी है। वैज्ञानिक ढंग से राग के अन्तर्गत एक पदे, द्विपदे, त्रिपदे, चौपदे, पंचपदे, छःपदे, अष्टपदियाँ, सोलिहें, छंट, वार आदि के क्रम से वाणी रखी गयी है। पद छोटे भी हैं और बड़े भी। इनकी तुकों के आधार पर ही इन्हें ये नाम दिये गये हैं। प्रत्येक राग में किसी गुरु की कितनी वाणी है तथा उसमें कितने एकपदे, द्विपदे, चउपदे आदि हैं, इसकी संख्या भी साथ-साथ दी गयी है। इन रागों के अन्तर्गत पहरे वणजारा, बारहमाहा, दिनरैणि, बिरहड़े, पट्टी, करहले, बावन अखरी, सुखमनी, घिति, घोड़िया, अलाहणिया, आरती, अनदे, सध, सिद्धगोसटि, अंजुलिया, जापु, सोहिले, बार, गाथा, फुनहे आदि कुछ अन्य शीर्षकों से भी वाणी आई है। गुरुजी ने संगीत शास्त्रीय नियमों का कठोरता से पालन नहीं किया, वरन् संगीत की देशी विधि को अधिक अपनाया गया है। वस्तुतः, 'आदिग्रंथ' की मनोहारी संगीतात्मकता एवं लयात्मक विशिष्टता के कारण इसे अब 'गुरुमत संगीत' की संज्ञा भी दी जाने लगी है। गुरुजी ने संगीत की सार्थकता भी प्रभुप्रेम के गायन से मानी है।

वस्तुतः, 'आदिग्रंथ' की संपादन पद्धति से गुरु अर्जुनदेव की साहित्यिक प्रतिभा, व्यापक अध्ययन, मौलिक चिंतन, मानववादी एवं समन्वयवादी उदार दृष्टि, संगीत शास्त्रीय विशद ज्ञान आदि का भरपूर परिचय मिलता है। काव्य की विविध शैलियों एवं विभिन्न काव्यरूपों से भी वे भलीभांति परिचित थे और किस काव्य शैली को और किस काव्य रूप को किस राग में प्रस्तुत करना उचित होगा, इसकी उन्हें सम्यक जानकारी थी। गुरुजी को रागों की प्रवृत्ति का भी पूर्ण ज्ञान था और मनुष्य की आध्यात्मिक साधना में क्रमिक विकास की प्रक्रिया को ध्यान में रखकर ही उन्होंने उसके अनुरूप रागों की क्रम-व्यवस्था की है, जो श्रोता के मन पर तद्नुरूप अमिट प्रभाव डालती है। निसन्देह, 'आदिग्रंथ' का सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं धार्मिक दृष्टि से अत्यधिक महत्व है। यह भक्ति, ज्ञान, वैराग्य से परिपूर्ण रचना है और प्रभुप्रेम की पवित्र एवं निश्छल अनुभूतियों की इसमें मार्मिक व्यंजना हुई है। यह सिख-इतिहास, संस्कृति और परम्परा का प्रतीक ग्रंथ है और इसने सिक्खों के सामाजिक एवं धार्मिक आचार का निर्देशन करके उन्हें एक सूत्र में बाँधने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। वह सिक्खों की साहित्यिक परम्परा का स्रोत एवं उनके सांस्कृतिक एवं बौद्धिक चिंतन का प्रकाश स्तम्भ है। निश्चय ही समाज और साहित्य को गुरु अर्जुनदेव की यह एक विलक्षण एवं अद्वितीय देन है।

गुरु अर्जुनदेव की वाणी उपर्युक्त जिन शीर्षकों के अन्तर्गत रखी गई है उनमें 'बारहमासा' में बिरहणी जीवात्मा की बारह महीनों में होने वाली मनःस्थिति का चित्रण किया गया है। इसका मुख्य विषय आध्यात्मिक है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया है कि अटल सुहाग परब्रह्म के वियोग के कारण ही जीवात्मा को वर्ष के बारह महीनों में कष्ट सहना पड़ता है। जैसे : आषाढ़ के विषय में कहा गया है कि यह महीना उन्हीं के लिए तपता है जो प्रभु का नाम स्मरण नहीं करता।[1] इन पदों में आध्यात्मिक प्रेमानुभूति की व्यंजना बड़ी सरल और सरस शैली में की गई है। इनमें प्रभु मिलन के उपाय और प्रेरणा तथा मिलन अनुभूति के सुख की झलक भी मिलती है।

'बावन अक्षरी' यद्यपि वर्णमाला के बावन वर्णों के आधार पर लिखी रचना है, पर इसका विषय भी आध्यात्मिक चिंतन, प्रभुभक्ति, नाम के महत्व एवं गुरु स्तुति से सम्बन्धित है। गुरुजी ने गउडी, गूजरी, जैतसरी, रामकली, मारुबसन्त रागों में कुछ 'बारें' भी लिखी हैं जिनका विषय भी प्रभु का गुणगान करना है और अपनी हरि के प्रति भक्ति को प्रदर्शित करना है। इन 'बारों' में अनुभूतियों की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है और भाषा के विविध रूपों (ब्रज, पंजाबी) के दर्शन होते हैं। पहले पहरे के अन्तर्गत पाँच पद आए हैं, जिनमें मानव जीवन के—शैशव, यौवन, जरा, मृत आदि पाँच सोपानों का चित्रण करते हुए मानव जीवन की विभिन्न स्थितियों का चित्रण तथा नाम महिमा के महत्व का निरूपण किया गया है। 'थिति' में व्रत उपवास आदि बाह्य कर्मकाण्डों की निन्दा करते हुए नाम-स्तुति के महत्व को दर्शाया गया है। इसी तरह 'दिन रैणी' में भी हरि स्मरण की प्रेरणा दी गई है। 'बिरहड़े' में मनुष्य को साँसारिक धन सम्पति आदि से अनासक्त होकर संतोषी जीवन व्यतीत करते हुए प्रभु स्मरण की प्रेरणा दी गई है। 'फूनहे' में भी माधुर्य भाव से ओतप्रोत पद हैं जिनमें जीवात्मा की अपने प्रिय परमात्मा के प्रति आकुलता आदि की अभिव्यंजना की गई है। यह पंजाबी लोकगीतों की पद्धति पर लिखी गई रचना है। गुरु अर्जुन देव की सबसे प्रमुख और महत्वपूर्ण रचना है 'सुखमणि' जो गोड़ी राग में लिखी गई है। यह सूत्रात्मक शैली में रचित एक लम्बी रचना है जिसमें ब्रह्म, जीव, माया, सृष्टि आदि के स्वरूप का चिंतन करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि वास्तविक सुख क्या है और मनुष्य उस सुख की उपलब्धि कैसे कर सकता है। गुरुजी के अनुसार प्रभु सभी साँसारिक सुखों का प्रदाता है और ये सब सुख भी नाम स्मरण, गुरुसेवा, साधु-संगति, अहंकार के त्याग एवं विनम्रता ग्रहण करने से प्राप्त होते हैं। ब्रह्म की अनन्तता, अद्वैतता एवं सर्वशक्तिमत्ता, शरीर और संसार के मिथ्यात्व आदि पर प्रकाश डालते हुए गुरुजी ने अहंकार के त्याग, सत्संगति, नामस्मरण, हुकम (गुरु-कृपा) एवं गुरु आदि के महत्व तथा माया जनित कष्टों एवं साँसारिक दुःखों से त्राण पाकर शाश्वत सुख एवं अनंत आनन्द कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसका प्रतिपादन किया है। गुरुजी ने सरल भक्ति मार्ग का निरूपण करते हुए सभी लौकिक पारलौकिक सुखों की प्राप्ति हरि-स्मरण से मानी है। प्रभु-नाम सुखों की मणि है और सुखों का भंडार 'नाम'

---

1. आषाढ़ तपदा तिसुलगै हरिनाहुन निति पासि पृ० 134

से ही उपलब्ध होता है और प्रभु-स्मरण से सब दुःखों, कष्टों, संताप एवं आवागमन का नाश होता है।[1]

वस्तुतः, 'सुखमणि' में आध्यात्मिक और व्यावहारिक सुखों की प्राप्ति के साधनों का विस्तार से निरूपण किया गया है। यह रचना परम तत्व से तादात्म्य हेतु आध्यात्मिक प्रवृत्ति की प्रेरणा देती है और व्यावहारिक जीवन में सुख और शान्ति के लिए समाधान प्रस्तुत करती है या सुखी जीवन के प्रति आस्था जगाती है। आत्मा को आध्यात्मिक चिंतन और प्रभु-भक्ति से शान्ति, आशा और सुख प्राप्त होता है और व्यावाहारिक जीवन में विनम्रता और दीनता मनुष्य को सुखी बनाते हैं। गुरुजी ने मानव जीवन को सुखी बनाने के लिए 'सचुकरनी' और 'सचुकथनी' पर भी विशेष बल दिया है।

वस्तुतः, गुरु अर्जुन देव के सभी पदों एवं रचनाओं का मुख्य और केन्द्रीय विषय आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्धित है। उनके पदों में पुनः-पुनः और भिन्न-भिन्न रूपों में अथवा भिन्न-भिन्न दृष्टान्तों एवं रूपकों के माध्यम से ब्रह्म, जीव, जगत-सृष्टि, माया आदि के स्वरूप; सांसारिक वैभव, ऐश्वर्य, शक्ति एवं सम्बन्धों की नश्वरता; भोग-विलास की व्यर्थता; काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा एवं अहंकार आदि के त्याग; सत्य, संयम सन्तोष, क्षमा, दया, विनय, परोपकार आदि को धारण करने; साधु-संगति एवं सत्संगति के महत्व; गुरु, गुरुकृपा एवं गुरु-उपदेश के महत्व; नामस्मरण; दुष्कर्मों के त्याग एवं शुभ-कर्म करने; आवागमन एवं अन्य दुखों से मुक्ति के उपाय; सुख-दुःख-अपमान, स्तुति-निन्दा से ऊपर उठकर हरि-गुणगाथा करते हुए शाश्वत सुख की उपलब्धि के उपायों आदि का विशदता से प्रतिपादन किया गया है। इस सम्बन्ध में गुरु अर्जुनदेव के कुछ ऐसे पद यहाँ उद्धृत करने प्रासंगिक होंगे जिनमें उनकी समस्त वाणी का प्रतिपाद्य अभिव्यंजित होता दिखायी पड़ता है।

"मनुष्य मात्र संसार को उत्तम समझ कर माया-मोह के आवरण में निरन्तर फँसा रहता है पर जगत की वास्तविकता सामने आने पर उसे कटु यथार्थ का बोध होता है। मनुष्य भाई, मित्र, सुहृद सरीखे सम्बन्ध बनाता है, जिनका नाश होने में विलम्ब नहीं होता। इसीलिए गुरु अर्जुनदेव का कहना है कि जगत में नाम-महिमा के अतिरिक्त सभी पदार्थ नश्वर हैं। मेरे मन तू निर्द्वन्द और निर्भीक होकर सतगुरु की सेवा में तल्लीन रह, मन की वासनाओं से सावधान हो तथा जगत की नश्वरता का स्मरण रखते हुए मनो-बिकारों को त्याग दे। यह मन तो बड़ा ही लोभी है। काम-क्रोध के नशे में सहज ही लीन होकर अच्छे और बुरे का फर्क नहीं कर पाता और आत्म-विस्मृत-सा पागल कुत्ते की भांति दसों दिशाओं में डोलता है। माया के जाल तले ही विषय-तृष्णा रूपी दाना है

---

1. प्रभु के सिमरनि दुखु जन नसै।
   प्रभु के सिमरनि काल पर हसै।
   प्रभु सिमरत कुछु विधन न लागे।
   प्रभु के समरन भउ न आये।
   प्रभु के सिमरन दुख न संतायें।

जहाँ मनरूपी पक्षी फँस जाता है और अपने सर्जक को भूल जाने के कारण ही वह नित आवागमन का शिकार हो रहा है। इस माया के आवरण से निकलने के लिए 'सतिगुरु' नाम ही आवश्यक है क्योंकि उनकी कृपा दृष्टि बिना मुक्ति असम्भव है।[1] गुरुजी का मानना है कि दुनिया में कई चीज़ें हैं— सशक्त शरीर, धन, पत्नी, पुत्र तथा भोग-विलास के अनेक साधन जिन्हें अधिकार की भावना से प्रेरित हो मनुष्य अपना कहकर झूठा सन्तोष-लाभ करता है परन्तु परमात्मा का नाम यदि मन में न हो तो नश्वर ऐश्वर्य का अभिमान व्यर्थ है। जीवन की सार्थकता हरि नाम का स्मरण करते हुए नित्य साधु की संगति में रहने और गुरु के चरणों में ध्यानस्थ हो जाने में हैं। प्रभु का स्मरण भी ईश्वर की कृपा से ही सम्भव है। गुरु की महिमा अपार है, उसकी शरण में जाने से ही मन के भ्रम तथा अहं भाव सब नष्ट हो जाते हैं और जीव का आवागमन मिट जाता है। गुरुजी का समस्त जीव के लिए आदेश है कि अड़सठ तीर्थों की पावनता के समान गुरु की संगति में ही तुम्हें लाभ, यश और आदर मिलेगा तथा तुम्हारी आत्मा, मन, प्राण और शरीर सब सफल हो जायेंगे। प्रभु सर्वकर्त्ता है, सर्वव्यापक है[1] वही मारने और जिलाने वाला है। गुरुजी का कथन है कि हे दया के सागर सर्वजीव के स्वामी, अब मैं केवल तुम्हारी ही शरण में हूँ।[2]

वस्तुतः, गुरुजी ने कर्मकाण्ड की निस्सारता और संसार के बाह्यचारों के खोखलेपन को अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से देखा था, इसीलिए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि ऐ

---

1. सिरीरागु महला ५। मिठा करि कै खाइआ कउड़ा उपजिआ सादु। भाई मीत सुरिद कीए बिखिआ रचिआ बादु। जाँदे बिलम न होवई विणुनावै बिसमादु। मेरे मन सतगुरु की सेवा लागु। जो दीसे सो बिणसणा मन की मति तिआगु (१) रहाउ। जिउ कूकरु हरकाइआ धावै दहदिस जाई। लोभी जन्तु न जाणई भखु अभखु सभ खाई। काम क्रोध मदि बिआपिआ फिरि फिरि जोनी पाई (२) माइआ जालु पसारिआ भीतरि योग बणाइ। त्रिसुना पंखी फासिआ निकस न पाए माई। जिनि कीता तिसहि न जाणई फिरि फिरि आवै जाइ (३) अनिक प्रकारौ मोहिआ बहु बिधि इहु संसारु। जिसनो रखे सो रहे संभ्रिथु पुरखु अपारु। हरिजन हरि लिव उधरे नानक सद बलिहारु (४।२१।९१)
2. सिरीराग महला ५। मेरा तनु अरु धनु मेरा राज रूप मैं देसु। सूत दारा बनिता अनेक बहुतु रंग अरु वेस। हरिनामु रिदे न बसई कारजि कितै न लेखि। (१) मेरे मन हरि-हरि नामु धिआइ। करि संगति नित साध की गुरुचरणी चितु लाइ। रहाउ। नामु निधानु धियाइऐ मसतकि होवै भागु। कारज सभि सवारी-अहि गुरु की चरणी लागु। हउमें रोगु भ्रमु कटीए ना आवे ना जागु। करि संगति तूं साध की अठसठि तीरथ नाउ। जीउ प्राण मनु तनु हरे साचा ऐइ सुआउ। ऐथे मिलहि बडाईआ दरगाह पावहि थाउ (३) करे कराए आपि प्रभु सभु किछु तिस ही हाथि। मारि आपे जीवालदा अंतार बाहरि साथि। नानक प्रभु सरणागती सरब घटा के नाथ। (४।१५।८५)

जीव हरि नाम के धन का संग्रह कर, सतिगुरु की आराधना में प्रवृत्त हो और शेष सब मनोविकारों का त्याग कर दे। सम्पूर्ण विश्व काम, क्रोध, मोह और अहंकार के जाल में फँसा हुआ है। इसीलिए ऐ मनुष्य ! तू सन्तों की शरण में जा, उनका आदेश पालन कर, इसी से तेरे अज्ञान के सब दुःखों का नाश होगा। संसार में काम, मोह और अहंकार की अपेक्षा सत्य, सन्तोष और दया की वृत्तियाँ ही श्रेष्ठ हैं। समूचे दृश्यमान जगत में उसी परब्रह्म की व्याप्ति है और गुरु ही जीव के भ्रम का नाश कर उसे परमात्मा के सर्व-व्यापकत्व का बोध करवाता है।[1]

गुरु अर्जुनदेव के आध्यात्मिक विचार मूलतः गुरु नानक तथा पूर्ववर्ती अन्य गुरुओं के अनुरूप हैं। उन्होंने ब्रह्म, जीव, जगत, माया तथा अन्य दार्शनिक एवं आध्यात्मिक तत्वों का निरूपण अपेक्षाकृत अधिक विस्तार और स्पष्टता से किया है जो उनके मानववादी एवं मानवतावादी विचारों को भी विशदता से प्रकट करते हैं।

---

1. सिरीरागु महला ५ साँचि हरिधनु पूजि, सतिगुरु छोडि सगल विकार। जिनि तूं साजि सवारिआ हरि सिमरि होइ उधारु ॥१॥ जपि मन नामु एकु अपारु। प्रान मनु तनु जिनहि दीआ रिदे का आधारु ॥१॥ रहाउ। कामि क्रोधि अहंकारि माते बिआपिआ संसारु। पउ सतं सरणी लागु चरणी मिटै दूखु अंधारु।।२। सतु सन्तोखु दइआ कमावै एह करणी सार। आपु छोड़ि सभ होइ रेणा जिसु देई प्रभु निरंकारु ॥३॥ जो दीसे सो सगलतूं है पसरिआ पासारु। कहु नानक गुरि भरमु काटिआ सगल ब्रहम बीचारु। ४।२५।८५

6

श्री गुरु तेगबहादुर : आज का सन्दर्भ

भाई सन्तोखसिंह ने सुल्तानपुर के प्रसंग में 'गुरु नानक प्रकाश' में कहा है—

"हिन्दू कोई न कह सके तुरकन तेज बिसाल ।
परमेशर ही पति राखइ, सिमरहि दीन दयाल ।।"

वह युग था जब धर्म-असहिष्णु, क्रूर, यवन शासकों का आतंक इतना बढ़ चुका था कि हिन्दुओं को स्वच्छन्दता से अपने धर्म का पालन करने की भी स्वतन्त्रता नहीं थी। यवनों के अत्याचारों के आतंक से सामान्य हिन्दू जनता पीड़ित और असहाय थी। उन्हें बलपूर्वक धर्म-परिवर्तन के लिए विवश किया जाता था और अपनी इच्छानुसार आचरण करने से रोका जाता था। गुरु तेगबहादुर ने हिन्दू-धर्म की ढाल बनकर इन चुनौतियों का सामना किया और महान आत्मबलिदान देकर स्वतन्त्रता और स्वच्छन्दता की लड़ाई की नींव डाली। युग-चिन्तन को एक नयी दिशा दी, एक नया आदर्श स्थापित किया, जो भविष्य के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया। आत्म-बलिदान देकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने का जो महायज्ञ गाँधी जी के द्वारा सम्पन्न हुआ, उस महायज्ञ का प्रारम्भ गुरु तेगबहादुर से ही हुआ—ऐसा कहा जा सकता है।

गुरु तेगबहादुर को इतनी चुनौतियों का सामना करना पड़ा, नृशंसता और धर्मान्धता के कठोर प्रहारों को सहना पड़ा, अनेक संकटों को झेलना पड़ा, लेकिन आश्चर्य की बात है कि उनकी वाणी में कहीं भी कोई कटुता, क्षोभ, असन्तोष का स्वर नहीं है। उसमें अनन्त शान्ति, आनन्द और आह्लाद है और आनन्द और शान्ति की उपलब्धि का मार्ग निर्दिष्ट है। इसका एक ही कारण हो सकता है, और वह यह कि वे जीवन के अनन्त सौन्दर्य, मंगल और आनन्द का रहस्य पा गये थे। उन्होंने अपने युग की चुनौतियों का सामना करते हुए युग-चेतना को ही एक नयी दिशा और प्रेरणा नहीं दी, वरन् मानव-मात्र के लिए शाश्वत सुख और आनन्द का मार्ग भी प्रशस्त किया। यही कारण है कि आज तीन सौ वर्ष बीत जाने पर भी उनका महान् बलिदान हमें प्रेरित करता है, और उन्होंने जो मूल्य स्थापित किये, मानव-कल्याण का जो मार्ग सुझाया, वह आज भी उतना ही उपयोगी और सार्थक है, जितना तब था।

आज आधुनिकता का युग है। आधुनिक जीवन-दृष्टि और आधुनिक बोध की बहुत चर्चा है। मनुष्य ने वैज्ञानिक और औद्योगिक क्षेत्र में जो चमत्कार उपस्थित किये हैं, उसके लिए सुख और सुविधाओं के अनन्त क्षितिज उद्घाटित हो गये हैं। लेकिन क्या इन सब उपलब्धियों से आज का मानव अधिक सुखी, स्वस्थ, शान्त और आनन्दित है? या कि वह और भी अधिक कुण्ठित, जर्जरित, अशान्त और विशृंखलित हो गया है। आज का मनुष्य कहीं अधिक स्वार्थी, लोभी, अविश्वासी, शंकालु और संत्रस्त है। वह एक घुटन एवं तनाव की जिन्दगी जी रहा है। उसका व्यक्तित्व टुकड़े-टुकड़े होकर खण्डित हो चुका है। वह टूटता जा रहा है, बिखरता जा रहा है। ईर्ष्या, द्वेष, लालसा और तृष्णा की आँधी में वह दिशाहीन और लक्ष्यहीन एक भीड़ में दौड़ रहा है। धक्का-मुक्की, आपा-धापी, छीना-झपटी ही उसका जीवन है। असन्तोष, क्षोभ और विद्रोह उसकी मुद्रा है। ऐसा सब क्यों है? उसे धन की, अधिकार की, सुख की लालसा है—ऐसे सुख की, जो वास्तविक नहीं है, सत्य नहीं है और इसीलिए उसे शान्ति नहीं मिल रही है, और अनेक सुख-सुविधाओं के होने पर भी वह हिप्पियों की तरह शान्ति की तलाश में मारा-मारा फिर रहाहै। उसे आज शान्ति चाहिए, आनन्द चाहिए। गुरु तेगबहादुर ने हमें इस शान्ति का मार्ग बताया है। हम इसी मार्ग पर चलकर शान्ति और आनन्द पा सकते हैं—ऐसा आनन्द जो सत्य है, शाश्वत है, अखण्ड है।

ज़िन्दगी जीने के दो रास्ते हो सकते हैं—एक आसक्ति का, दूसरा अनासक्ति का। आसक्ति भौतिक जीवन का दर्शन है, लालसा और मोह का मार्ग है। आज की हमारी नयी पीढ़ी भौतिक जीवन को यथार्थ मानकर अध्यात्म मार्ग को नकार रही है। मानव-मूल्यों के प्रति उसमें अनास्था है, अस्वीकृति है, विद्रोह है। वह 'हर उगते हुए सूर्य को गाली देना चाहती है' और गाली देती है और भटक रही है—दिशाहीन, लक्ष्यहीन। मनुष्य में व्यक्तित्वाभिमान से ही द्वन्द्व, मोह और अहंकार पैदा होता है, जो सभी दुःखों का मूल है। गुरु तेगबहादुर ने इस सत्य को पहचान कर सांसारिकता के प्रति अनासक्ति एवं वैराग्य को महत्व दिया। उन्होंने बताया कि 'परदारा' और 'परधन' का सुख मिथ्या है। यह शरीर क्षणभंगुर है। यह संसार 'धुएँ के पहाड़' और 'ओले' के समान क्षणभंगुर है। अन्त में कोई साथ नहीं देता। जब 'काल की फाँसी' गले में पड़ती है, तो सब कुछ यहीं रह जाता है। इसलिए, 'लोभ के वश में कुत्ते की भाँति दर-दर भटकना व्यर्थ है', 'दीन होकर 'परदारा' सुख की कामना करना मूर्खता है'। सुख और शान्ति प्राप्त करने का एक ही मार्ग है, और वह है त्याग का मार्ग, अनाशक्ति का मार्ग, विमल वैराग्य का मार्ग, आशा और तृष्णाओं का त्याग; मोह और अहंकार का त्याग, दुर्मति और भय का त्याग। हमें सुख-शान्ति तभी मिल सकती है, जब हम 'सुख-दुःख', 'मान-अपमान', 'स्तुति-निन्दा' में समान भाव रखते हुए त्याग का जीवन व्यतीत करें। गुरु तेगबहादुर का एक ही सन्देश है और वह यह कि मनुष्य-जन्म बड़ी कठिनाई से मिलता है। इसे ईर्ष्या-द्वेष, शंका-सन्देह, लोभ और मोह के द्वंद्वों में नष्ट नहीं करना चाहिए। बल्कि संसार में अनासक्त भाव से, त्याग का जीवन व्यतीत करते हुए 'गुरुमुख' की तरह रहना चाहिए। ऐसा 'गुरुमुख' जो अपने अन्तर में न किसी कुण्ठा और घुटन को अनुभव करता है, न शंका-सन्देह पालता है, न बिखरता

और टूटता है, न ही दिशाहीन होकर भटकता है। निःसन्देह, आज भी जीवन में इन मूल्यों की स्थापना से हम सुख और शान्ति का अनुभव कर सकते हैं। एक अन्तहीन लक्ष्य-हीन दौड़ में शामिल न होकर टुकड़े-टुकड़े होने से बच सकते हैं। इस प्रकार के आचरण से न केवल व्यक्ति आत्म-कल्याण कर सकता है, बल्कि वह औरों को भी भवसागर से पार करा सकता है। अर्थात्, इन मूल्यों में ही आज संकटग्रस्त मानव की मुक्ति का रहस्य निहित है। आज भी यही मूल्य मानव के लिए मंगलकारी हो सकते हैं। हमें ऐसे ही मूल्यों को स्थापित करना चाहिए, जिनकी स्थापना गुरु तेगबहादुर ने अपनी वाणी में की है।

यहाँ एक बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि गुरु तेगबहादुर ने त्याग और अनासक्ति के जिस मार्ग का प्रवर्त्तन किया है, वह किसी प्रकार की निराशा और उदासीनता का परिणाम नहीं है। न ही यह अनासक्ति निष्क्रियता है, न पलायन। वह तो 'गीता' का वही अनासक्ति कर्मयोग है, जो अर्जुन को दुष्टों के संहार के लिए प्रेरित करता है और जिसने गुरु तेगबहादुर को असत्य और अन्याय, धर्मांधता और असहिष्णुता की चुनौती का सामना करने के लिए एक महान् बलिदान करने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार का महान् बलिदान देने वाले व्यक्ति को पलायन वादी, निराशावादी या उदासीन नहीं कहा जा सकता। श्री गुरु तेगबहादुर युग-जीवन को नवचेतना, नव-जागरण की प्रेरणा देने वाले कर्मठ युग-पुरुष थे। वह एक अनासक्त योगी थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'भय काहू कउ देत नहि, नहिं भय मानत आन।' वे अकाल पुरख के प्रतिरूप थे, जो 'निर्भय' है। वे न किसी से भय मानते थे, न किसी को भय दिखाते थे। उनकी आस्था थी—"जिओ और जीने दो।" न किसी का भय मानो, न किसी को आतंकित करो। आतंक और उत्पीड़न के वे महाविरोधी थे और इसी के लिए उन्होंने हमें प्रेरणा दी। आज के संसार में चारों ओर जो स्पर्धा और संघर्ष है, आतंक और उत्पीड़न है, उसका उन्मूलन करने के लिए गुरु तेगबहादुर का यह वाक्य रामबाण सिद्ध हो सकता है—

भय काहू कउ देत नहिं,
नहिं भय मानत आनि॥

7

खालसा पंथ : साधना में शक्ति का प्रवर्त्तन

भारतीय परम्परा में एक विश्वास रहा है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है, सत्य एवं न्याय का विघटन होता है और मानवता खतरे में होती है, उस समय भगवान दुष्टों का नाश एवं सत्य, न्याय और धर्म की रक्षा करने के लिए इस भूतल पर अवतरित होते हैं। गुरु गोबिन्दसिंह जी भी इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

जब-जब होत अरिष्ट अपारा,
तब-तब देह धरत अवतारा। (चौबीस अवतार 1:2)

दशम गुरुजी स्वयं एक ऐसे ही महापुरुष थे जो उस युग की आतंकवादी एवं अन्यायी शक्तियों का नाश करके धर्म एवं न्याय की प्रतिष्ठा के लिए अवतरित हुए थे। इसी उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था कि मुझे परब्रह्म परमेश्वर ने दुष्टों का नाश करने और धर्म की स्थापना करने के लिए यहाँ भेजा है—

इम इह काज जगत मो आए,
धरम हेत गुरदेव पठाए।
जहाँ तहाँ तुम धरम बिथारौं,
दुसट दोखअनि पकरि पछारो। (वि० ना० 1:42)

वस्तुतः, कभी-कभी ही ऐसा युगद्रष्टा एवं युगस्रष्टा लोकनायक इस भूतल पर अवतरित होता है, जो अपने युग की चुनौतियों का दृढ़ता से सामना करते हुए अपने मंगलकारी कृत्यों एवं अमृतमयी वाणी से इतिहास को नया मोड़ देता है। वह आने वाले युग की आहट को सुनता है और नयी स्थितियों के अनुरूप संतप्त मानवता को अपने जीवन्त सन्देश से सींच कर जिन्दगी के दरिया में एक नयी हिलोर उत्पन्न कर देता है। दसवें गुरु गोबिन्दसिंह जी एक ऐसे ही क्रान्तिदर्शी युग-पुरुष थे। उनका व्यक्तित्व विविध रूपात्मक था। वे एक स्वतन्त्र अध्यात्म-चिन्तक, भारतीय परम्पराओं के संरक्षक एवं संवर्द्धक, निष्ठावान धर्म-प्रवर्त्तक, सामाजिक समता और सामाजिक न्याय के संस्थापक, मानवतावादी लोकनायक और एक शूरवीर राष्ट्रनायक थे। वे सत्य, न्याय, सदाचार, निर्भीकता, दृढ़ता, त्याग एवं साहस की प्रतिपूर्ति थे। इस प्रकार परम सत्य की उपलब्धि

को जीवन का लक्ष्य मानकर मानव मात्र का मंगल चाहने वाले वे परमसन्त थे, तथापि उनका व्यक्तित्व वज्र-सा कठोर, तड़ित-सा तेजस्वी, सिंह-सा सशक्त एवं पर्वत-शिला-सा दृढ़ था। वे अदम्य साहस एवं अडिग धैर्य से युक्त गत्यात्मक शक्तिशाली व्यक्तित्व के धनी थे। वे धर्मान्ध यवन शासकों के अत्याचारों एवं आतंक से पीड़ित निरीह, असहाय एवं निर्बल हिन्दू जाति के रक्षक थे। 'दीनों' का ऐसा समर्थ हित-चिन्तक, सन्तों का ऐसा उद्धारक, भारतीय संस्कृति और हिन्दू-धर्म का ऐसा तेजस्वी संरक्षक सन्त-सिपाही भारत के इतिहास में विरला ही मिलेगा। उनके इस प्रकार के शौर्यपूर्ण कृत्यों का वर्णन उनकी अपनी रचना में तो विस्तार से मिलता ही है, उनके दरबारी कवियों-सेनापति, हीर, अणीराय, मंगल, हंसराम तथा परवर्ती कवि कुइर सिंह, सुक्खा सिंह, भाई सन्तोख सिंह आदि ने भी बड़ी निष्ठा और गौरव से किया है।

गुरु गोबिन्दसिंह के भविष्य-दर्शन का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष सन्त-परम्परा में शौर्य अथवा वीर भावना के समावेश और 'खालसा' की स्थापना से सम्बन्धित है। गुरु गोबिन्द सिंह ने तीव्रता से यह महसूस किया था कि असहाय अवस्था में रह कर कायरता को धारण कर कोई भी देश, संस्कृति, जाति या धर्म जीवित नहीं रह सकता, भले ही उसका अध्यात्म चिन्तन एवं सांस्कृतिक परम्परा कितनी ही उदात्त और महान क्यों न हो। इस-लिए उन्होंने आध्यात्मिक साधना के साथ-साथ शक्ति-साधना पर भी बल दिया और भक्ति में शौर्य का समावेश किया और इसी उद्देश्य से उन्होंने 'खालसा पंथ' की स्थापना की। खालसा की स्थापना के कारणों, उसके स्वरूप, मर्यादा, उद्देश्य एवं महत्व और उसके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा—

खालसा मेरो रूप है खास।
खालसे महि हउ करों निवास॥
खालसा मेरो इष्ट सुहिरद।
खालसा मेरो कहीयत बिरद॥
खालसा मेरो मित्र सखाई।
खालसा मित्र पिता सुखदाई॥
खालसा मेरो सतगुरु पूरा।
खालसा मेरो सज्जन सूरा॥
खालसा मेरो बुध अर ज्ञान।
खालसे का हौं धरो ध्यान॥
हों खालसे को खालसा मेरो।
ओत-पोत सागर बुन्देरों॥ **(सर्बलोह)**

गुरु गोबिन्दसिंह तथा अन्य गुरुओं के जीवन पर आधारित 'गुरुशोभा', 'गुरु-बिलास' तथा 'गुरुप्रताप सूरज' आदि काव्य-कृतियों में विशेष रूप से इसका वर्णन हुआ है। गुरु गोबिन्दसिंह के दरबारी कवि 'सेनापति' का कहना है कि—जगत का उद्धार करने के लिए गुरु गोबिन्दसिंह अवतरित हुए और असुरों का संहार करने के लिए, दुर्गुणों का नाश करने के लिए, संकटों का निवारण करने के लिए उन्होंने 'खालसा' की स्थापना की—

कल मैं करनहार निरंकार कलाधार,
जगत के उधारवे गोबिन्दसिंह आयो है।
असुर सिंहारबे को दुरजन के मारबे को,
संकट निबारबे को खालसा बनायो है।

(गुरु शोभा : 14/130)

इसी प्रकार भाई सन्तोखसिंह ने 'गुरु प्रताप सूरज' में कहा है कि 'खालसा' की रचना धर्म की स्थापना करने के लिए, पापों का नाश करने और सत्गुरु का स्मरण करने के लिए की गयी है—

धरम सथापबे को पापन के खापबे को,
गुरु जापबे को नई रीति यो चलाई है।
वाहिगुरुजी का भयो खालसा सुनीका अति,
वाहिगुरु जी की मिलि फते सो बुलाई है।

(गुरु प्रताप सूरज, रितु 3:19/44)

गुरु गोबिन्दसिंह ने 'खालसा' को अपना ही रूप घोषित किया है और यह भी कहा है कि मैं सदा 'खालसा' के साथ रहता हूँ। सच्चा खालसा वही है, जो भेद-भ्रम से अलग रहता है। 'गुरु-शोभा' में इस तथ्य का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

खालसा मेरो रूप है,
हौ खालसा के पासि,
आदि अंति ही होत है,
खालसा में प्रगास।
खालसा खास कहावे सोई,
जाके हिरदे भरम न होई,
भरम भेखते रहे निआरा,
सो खालस सतगुरु हमारा।

(गुरु शोभा : अध्याय 18/43/810)

'गुरु प्रताप सूरज' ग्रन्थ के अनुसार खालसा गुरु रूप है और गुरु गोबिन्दसिंहजी ने खालसा को उसी प्रकार गुरुता प्रदान की थी, जैसे गुरु नानक देव ने गुरु अंगद देवजी को गुरु बनाया था—

खालसा गुरु है गुरु खालसा करैं में अबि,
जैसे गुरु नानक जी, अंगद को कीनिओ।

(गुरु प्रताप सूरज, रि० 3:19)

'खालसा-संरचना' के समय पंच प्यारों को अमृतपान करवाने के पश्चात गुरुजी ने जो सन्देश दिया, उसमे खालसा की मर्यादा का संकेत मिलता है। 'गुरु शोभा' में कवि सेनापति ने इसका वर्णन इस प्रकार किया है—

पाचन सो कह मेल न करीये।
नाम दान निस दिन उर धरीये।

झूठै सरब उपाव तिआगहु,
श्री असधुज की चरनी लागहु। 49
राज जोग तुम कह मैं दीना,
परम जोत संग परचो कीना।
सन्त समूहन को सुख दीजै,
अचल राज धरनी महि कीजै। 51
तुरक-मलेछन सों नहीं मिलना,
ले हथिआर सामुहे पिलना।
जो पदवी खालसा गुर दीना,
सुर नर आज लगे नहीं चीना।
नर ते परमदेव बर कीने,
परम जोति के रस महि भीने। 52 (अध्याय-12)

इसी प्रकार 'गुरु-बिलास' में 'खालसा' की मर्यादा का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि जो शस्त्र से प्रेम करे और नित्य निरंकार का स्मरण करे—वही खालसा है—

शस्त्र से प्रेम करे,
नाम स्मरण करे वह खालसा।
प्रगट खालसा पंथ भणीजै,
जहाँ रहत गुर सकल लहीजै।
ससत्र असत्र संग करै प्यार,
निसदिन भजे नाथ निरंकारा।।

'गुरु प्रताप सूरज' ग्रन्थ में तो बड़े विस्तार से 'खालसा' के स्वरूप और आदर्श का वर्णन किया गया है। प्रभु-प्रेम, गुरुवाणी के पाठ, कायरता के त्याग, शौर्य और वीरता को महत्व देते हुए खालसा के स्वरूप का वर्णन उसमें इस प्रकार किया गया है—

पठहु प्रेम करि नित गुरबानी,
सिघनी सेवा करहु महानी।
कातुरता उरते परहरिनी,
बल के सहित सूरता धरनी।
जौधे की भुज के अनुसरे,
दुऊ लोक लटकति है परे,
जे जीतहि सुख इह जग माहीं,
भए म्रितक आगे सुख पाहीं,
(गुरु प्रताप सूरज, रितु 3: 18)

वस्तुतः, हरिनाम-स्मरण, पवित्र-आचरण, सत्संगति, झूठ के त्याग, गुनाहों के परित्याग, शुद्ध चित्त होकर सन्त-सेवा, पवित्रतापूर्ण-बन्दगी, सभी वर्णों के साथ एक लंगर में भोजन करना, दया, परोपकार का जीवन व्यतीत करना और सन्तों की रक्षा के लिए

शस्त्र धारण करना 'खालसा' के मुख्य लक्षण हैं। 'गुरु-बिलास' के अनुसार—खालसा के लिए—'झूठ को त्याग कर, स्वयं शुद्ध होकर सन्त सेवा करना तथा पवित्रता ही असली बंदगी है। यही धर्म है, मति भी यही है, यही आत्मज्ञान एवं आत्म-शुद्धी, यही प्रभु-प्रेम है।"
(गुर-विलास : 26/141)

धार्मिक स्तर पर उस युग में हिन्दू और मुसलमानों में जो मिथ्याचार और अहं-कार युक्त साधना-पद्धतियाँ प्रचलित थीं, गुरु गोबिन्दसिंह ने उनको निरर्थक घोषित करते हुए 'खालसा' की धार्मिक विशिष्टता का प्रतिपादन किया।

इसी प्रकार सामाजिक स्तर पर वर्ण एवं वर्ग-भेद मिटाकर सामाजिक समानता और मानवीय एकता को 'खालसा' का आदर्श घोषित किया और नैतिक स्तर पर विनम्रता को अधिक महत्व दिया—

इम सतिगुर निज सिख समुझावहिं।
अपर रहित सो बहुर बतावहिं। 41
जाति पाति को भेद न कोई।
चार बरन अचबहिं इक होई। 42
मति ऊँची राखहु, मन नीवाँ।
सिमरहु वाहिगुरु सुख सीवाँ। 43
(गुरु प्रताप सूरज : रितु 3 : 19)

सिखमत में लोकतांत्रिक परम्परा के आदर्श का स्पष्ट उदाहरण 'खालसा' की संरचना के समय मिलता है—जब पंच-प्यारों को अमृत-पान करवा कर खालसा रूप में स्थापित कर और उनको गुरु-रूप घोषित कर स्वयं गुरुजी उनसे अमृतपान कराने का अनुरोध करते हैं, जिसका उल्लेख 'गुरु प्रताप सूरज' में इस प्रकार हुआ है—

शंक न करीजै सावधान होइ दीजै अबि,
अंम्रित छकावो मुहि जैसे तुम लीनिओ।
(गुरु प्रताप सूरज रितु : 3 : 206)

निश्चय ही, 'खालसा' के जिस स्वरूप की परिकल्पना गुरु गोबिन्दसिंह ने की है, वह हमारे लिए एक अनुकरणीय आदर्श है और उसकी आज के युग में कितनी सार्थकता तथा प्रासंगिकता है—इसका सहजता से अनुमान लगाया जा सकता है।

गुरु गोबिन्दसिंह के भविष्य-दर्शन की आधुनिक युग में सामयिकता यों है कि उन्होंने निरीह और असहाय जनता में अपनी स्वायत्तता और सम्मान की रक्षार्थ, साहस, शौर्य और निर्भीकता का संचार किया, लेकिन उनकी वीर-भावना कर्म-सौंदर्य उदात्तता से युक्त है। गुरु तेगबहादुर ने सत्य, न्याय की रक्षार्थ अपना बलिदान देकर साहस, निर्भयता का अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत किया, लेकिन साथ ही वीरता का आदर्श प्रस्तुत करके उन्होंने कहा था—

भय काहू कउ देति नहिं, नहिं भै मानत आनि।
कहु नानक सुनि रे मना, गियानी ताहि बखानि।

साहस एवं शौर्य के संदर्भ में गुरु गोबिन्दसिंह का भी यही आदर्श था कि न किसी को आतंकित और भयभीत करो और न किसी का भय मानो। अपने युद्धों को भी उन्होंने 'धर्मयुद्ध' का नाम दिया है और अवतारों की कथाओं का वर्णन भी उन्होने 'धर्मयुद्ध' का उत्साह उत्पन्न करने के लिए ही किया था। उन्होंने 'कृष्णावतार' में कहा है--

दसम कथा भागौत की भाषा करी बनाई।
अवर वासना नहिं प्रभु धरम जुद्ध की चाई।

(कृष्णावतार : 2491)

खड्ग वंदना

पृथ्वी पर अपने आगमन के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए भी उन्होंने यही घोषणा की थी कि मुझे 'दुष्टों का नाश करने और धर्म की रक्षा करने के लिए गुरुदेव ने यहाँ भेजा है' और इसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए उन्होंने शस्त्र धारण किए थे। अर्थात् उन्होंने साहस और शौर्य का उपयोग दीनों के प्रतिपालन, संतों के उद्धार तथा सत्य और न्याय की रक्षा के लिए किया था। उन्होंने खड्ग की वंदना करते हुए भी इसी तथ्य को स्पष्ट किया है कि 'वह खड्ग जो संतों को सुखी करने वाली, दुष्टों का मर्दन करने वाली, पापों का नाश करने वाली है, मेरी आश्रय है। यह जगत की कारक, सृष्टि की पालक और मेरा प्रतिपालन करने वाली है। ऐ खड्ग, तेरी जय हो।

खग खंड विहंड खल दल खंड अति रण मंडं बरवंडं।
भुज दंड अखंडं तेज प्रचण्डं जोति अमंडं भान प्रभं।
सुख संता करणं दुर्मति दरणं किलविख हरणं अस सरणं।
जै जै जग कारण स्रिसटि ऊबारन मम प्रतिपारन जै तेंगं।

(विचित्र नाटक 1 :2)

ऐसी खड्ग उनके लिए प्रभु की असुर-संहारक, दुष्ट-विनाशक और संतों की रक्षक शक्ति का प्रतीक है। इसीलिए उन्होंने परब्रह्म परमात्मा का स्मरण और वंदन 'असि पाणि', 'असिध्वन' 'असि केतु', 'सर्वलौह', 'खड्गकेतु', 'खड्गपाणि' के रूप में किया है और असुर-संहारक, संत-उद्धारक ऐसे सभी अस्त्र-शस्त्रों को ब्रह्ममय माना है। 'शस्त्र-नाममाला' में उनका कथन है—

तुमी गुरज तुमही गदा, तुमही तीर तुफंग।
दास जान मोरी सदा, रच्छ करो सरबंग॥

'गुरु विलास' में इसी अवधारण का निरूपण इस प्रकार किया गया है—

खड्ग केत अर खड्ग महि तनिक भेद नहीं कोई।
श्री आनन्द श्री मुख कह्यो, एक रूप करि सोई॥

(गुरु विलास 1/22)

कहने का अभिप्राय यही है कि गुरु गोबिन्दसिंह मूलतः और प्रमुखतः धर्म-गुरु थे। लेकिन, सत्य और न्याय की रक्षा के लिए और धर्म की स्थापना के लिए उन्हें शस्त्र

धारण करने पड़े। औरंगज़ेब को लिखे गए अपने पत्र 'ज़फरनामा' में उन्होंने स्पष्ट रूप से इस तथ्य को स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा था—

चूकार अज हमह हीलते दरगुजशत।
हलाल अस्त बुरदन ब शमशेर दस्त॥

अर्थात्, जब सत्य और न्याय की रक्षा के लिए अन्य सभी साधन विफल हो जाएँ, तो तलवार को धारण करना सर्वथा उचित है। 'कृष्णावतार' में एक ओर तो वीरों के आदर्श का आख्यान करते हुए वे कहते हैं कि—

कहा भयो मम ओर ते सूर हने संग्राम,
लरिबो मरिबो जीतिबो इह सुभटन को काम।

लेकिन, साथ ही जब प्रभु से वह वर माँगते हैं कि "जब मैं शत्रु से युद्ध के लिए प्रस्थान करूँ, तो तनिक भी भयभीत न होऊँ और निश्चित रूप से विजय प्राप्त करूँ, भले ही अंत समय आने पर रण में जूझते हुए मर जाऊँ", तो साथ ही वे यह भी वर माँगते हैं कि "किसी भी स्थिति में वे शुभ कर्मों से विचलित न हों।" उनकी यह वाणी सिक्ख इतिहास की अमर निधि है, जो आज भी हमें प्रेरणा देती है। उन्होंने कहा था—

देहि सिवा वर मोहि इहै, सुभ करमन ते कबहुँ न टरों।
न डरो अरि सों जब जाइ लरौ, निसचै करि आपनि जीत करो।
अरु सिख हों अपने ही मन को, यह लालच हौ गुन तौ उचरौ,
जब आव की औध निदान बने अत ही रन में तब जूझ मरौं।
(चण्डी चरित उक्ति विलास : 231)

कर्म-सौन्दर्य

वस्तुतः, शक्ति, शौर्य, पराक्रम, साहस, निर्भयता उनके लिए सत्य, न्याय और धर्म की रक्षा के पर्याय हैं और शुभ कर्मों अर्थात् कर्म-सौन्दर्य से उनका अभिन्न सम्बन्ध है। कहना चाहिए कि शुभ कर्मों के साथ साहस और निर्भीकता का जुड़े रहना उनकी एक अनिवार्य शर्त है, जिसके अभाव में साहस और निर्भयता अत्याचार, अन्याय, हिंसा और आतंक का रूप धारण कर लेते हैं। गुरु गोबिन्दसिंह ने अध्यात्म और वीरता का, भक्ति और शक्ति का, साहस और शुभ कर्मों का जो अनूठा सम्बन्ध स्थापित किया है, उसे उन्होंने एक सूत्रात्मक वाक्य में इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

धन्य जीउ तिह को जग माहि,
मुख ते हरिनाम चित में जुद्ध बिचारें।

निस्संदेह, आज विश्व मानवता स्वार्थ और संदेह, शंका और संघर्ष, हिंसा और आतंक, अन्याय और अत्याचार की जिन चुनौतियों से जूझ रही है—गुरु गोबिन्दसिंह का भविष्य-दर्शन उपर्युक्त अनेक स्तरों पर और अनेक रूपों में हमारा मार्गदर्शन कर सकता है। गुरु गोबिन्दसिंह एक भविष्य दृष्टा इतिहास पुरुष थे। उन्होंने अपने युग की चुनौतियों का साहस के साथ सामना करते हुए अपने युग के इतिहास को तो एक नया मोड़ दिया ही था, आज का मानव भी उनकी परिकल्पनाओं और अवधारणाओं से अपने लिए एक सुखद एवं मंगलमय इतिहास का निर्माण कर सकता है।

8

'जापु' साहब : एक स्तोत्र-काव्य

सिख-परम्परा में 'जपुजी' के पश्चात् 'जापु' सर्वाधिक महत्व की रचना है। यह एक 'स्त्रोत काव्य' है।

१. भारतीय वाङ्मय में भक्ति-स्तोत्रों की दीर्घ परम्परा है। 'स्तोत्र' शब्द 'स्तु' धातु से बना है, जिसका अर्थ है स्तुतिपरक गुण-कीर्तन। 'स्तोत्र' के सम्बन्ध में कथन है कि—'प्रतिगीत मन्त्रं साध्यं स्तोत्रं, अर्थात् किसी देवता का छन्दोबद्ध स्वरूप-कथन या गुण-कीर्तन अथवा स्तवन स्तोत्र कहलाता है। (हिन्दी साहित्यकोश, भाग-2, पृ० 945) स्तोत्र के चार रूप मान्य हैं द्रव्य स्तोत्र, कर्म स्तोत्र, विधि स्तोत्र एवं अभिजन स्तोत्र। 'जापु' को कर्म स्तोत्र की कोटि में रखा जा सकता है—

तब सरब नाम कथै कवन करम नाम बरनत सुमति।

२. ऋग्देव और सामवेद में स्तवनमूलक मंत्र आए हैं। ये संगीतात्मक एवं गेय हैं। वस्तुतः, प्रगीत ऋचाओं की ही संज्ञा 'स्तोत्र' है। संस्कृत साहित्य में स्तोत्रों की एक विशिष्ट परम्परा मिलती है, जिनमें, 'शिवसहस्त्रनाम स्तोत्रं', 'विष्णु सहस्त्रनाम स्तोत्रं', 'काली सहस्त्रनाम स्तोत्रं', 'श्यामा स्तोत्रं', 'दुर्गादिनाम स्तोत्रं' उल्लेखनीय हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य में भी अनेक स्तोत्र-काव्य लिखे गए हैं। भारतेन्दुकाल में 'कंकरस्तोत्र' एवं 'अंग्रेज स्तोत्र' जैसे व्यंग्यात्मक स्तोत्र भी लिखे गये।

३. भक्ति-स्तोत्र का लक्ष्य मानव देहधारी किसी देव या देवी की स्तुति करना है, जबकि 'जापु साहब' का लक्ष्य एक ऐसा अनिर्वचनीय ब्रह्म है जो मानवीय दैहिक तत्वों से परे हैं; काल, जन्म एवं मरण से मुक्त है। भक्ति स्तोत्रों में ब्रह्म के सगुण रूप एवं भक्ति की प्रवृत्ति मिलती है, किन्तु 'जापु साहब' में ब्रह्म के निर्गुणत्व तथा अकाल की भक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। इन स्तोत्रों में नाम-परिगणन शैली में स्तुत्य देव के विविध अभिधानों एवं विभूतियों से युक्त विभिन्न विशेषणों आदि का वर्णन होता है। जैसा कि 'विष्णु-सहस्त्रनाम स्तोत्र' में विष्णु के शील, शक्ति और सौन्दर्य सम्बन्धी गुणों-विशेषणों का परिगणन किया गया है। इसी प्रकार 'जापु साहब' में भी 'अकाल पुरुष' की विविध विशेषताओं, विभूतियों एवं अभिधानों की स्तुति की गई है। इसीलिए 'जापु' को 'अकाल

स्तोत्र' की संज्ञा भी दी जाती है।

४. 'जापु साहब' में सिखमत के मूल मन्त्र "१ ओंकार सतिनामु करता पुरख निरभउ निरवैर अजूनी अकाल मूरति सैभं गुरु प्रसादि' की अवधारणा के अनुरूप परब्रह्म के इन सभी गुण-बोधक विशेषणों का ही विशदता से निरूपण हुआ है। गुरु गोबिन्दसिंह के परब्रह्म परमतत्व, निर्विकार, निर्विकल्प' निरूपाधि, निर्गुण-निराकार हैं। 'जापु साहब', में परब्रह्म के इस स्वरूप की स्तुति उपनिषदों की 'नेति' 'नेति' एवं 'तत्वमसि'—इन दोनों पद्धतियों में की गई है। 'जापु साहब' में इस परम तत्व परमेश्वर का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

परम वेद पुराण जाकहि नेत भाखत नित।
कोटि सिमंत पुराण शास्त्र न आवई बहु चित।

५. परब्रह्म के अकालत्व और उसकी समस्त विभूतियों, विशेषताओं का व्यक्तिकरण 'जापु साहब' में निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों पद्धतियों में किया गया है। गुरु गोबिन्दसिंह ने उसके विराट, गतिशील, अमूर्त, द्वैताद्वैत, विलक्षण, घट-घट वासी, सरब निवासी स्वरूप का वर्णन सभी धर्मों, मतों, जातियों, देशों और भाषाओं में प्रयुक्त शब्दावली में किया है।

६. 'नेति' 'नेति' की अभावात्मक पद्धति का अनुसरण करते हुए 'जापु साहब' में उसके निराकार, निर्विकल्प रूप का वर्णन शब्दों के साथ 'अ' उपसर्ग लगाकर—अरूपे अभेखे, अलेखे, अकाए, अजाए, अगंजे, अभंजे, अनामे, अठामे, अकरम, अधरमं, अजीते, अभीते, अबाहे,अठाहे, अनीले, अनादे, अछेदे, अगाधे, अपारे, अभूते, अझूझे, अजूपे, अलोके, अनास, अबरने, असोके, अथापे, अधामे आदि शब्दों द्वारा किया गया है। कतिपय स्थानों पर—आधिज्जै देसे/आभिज्जै भेसे/आगंज करमं/आभंज भरमं आदि शब्दों में 'आ' उपसर्ग का भी उपयोग किया गया है।

इसी प्रकार उस ब्रह्म के निरूपाधि रूप को 'निर' अथवा 'अन' उपसर्ग लगाकर—निरकरमे, निरभरमे, निरदेसे, निरभेसे, निरनामे, निरकामे, निरघाते, निरधाते, निरतापे, निरबूझ, निरसीक; अनडंड, अनउसतुति, अनभेस आदि शब्दों द्वारा व्यक्त किया गया है। कहीं-कहीं 'न' अव्यय के साथ भी उसके इस स्वरूप का निरूपण हुआ है। यथा—

न पोत्रै न पुत्रै।
न सत्रै न मित्रै।
न तातै न मातै।
न जातै न पातै।

ब्रह्म की इस अवधारणा को व्यक्त करने के लिए एक ही विशेषण का प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थलों पर, भिन्न-भिन्न छन्दों में, विभिन्न विभक्तियों के साथ उन्हीं शब्दों में अथवा पर्यायवाची शब्दों में भी हुआ है। यथा—

भुजंग प्रयात छन्द में	चाचरी छंद में
नमसतं अरूपे	अरूप है।
नमसतं अनूपे	अनूप है।

नमसतं अजाए अजू है।
नमसतं अलेखे अलेख है।
नमसतं अभेखे अभेख है।
नमसतं अगंजे अंगज है।
नमसतं असरगे असरग है।
नमसतं अनीले अनील है।

पर्यायवाची रूप में

अकाए अनंगी
अगंजे अढाहे

स्तुतिपरक आवेश में एक या दो छन्दों में भिन्न-भिन्न चरणों में उन्हीं शब्दों का प्रयोग बार-बार किया गया है।

अजीत है। अभीत है। अबाह है। अजाह है।
अजीत है। अभीत है। अबाह है। अजाह है।

इसी प्रकार 'सरब गउने' एवं 'सरब पाले' आदि शब्दों का प्रयोग भी कई बार हुआ है।

परमात्मा की अनिर्वचनीयता का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

चक्रचिह्न अरु बरन जाति अरु पाति नहिन जिह।
रूप रंग अरु रेख भेख कोऊ कहि न सकत किह।

अर्थात् वह किसी चिह्न को धारण करने वाला, किसी वर्ण का, किसी जाति का नहीं है, न उसका कोई रूप है, न रंग, न वेश, अर्थात् वह विष्णु, शिव, राम, कृष्ण आदि में से कोई सगुण-स्वरूपा या अवतार पुरुष नहीं है। वह तो—

"अकाल मूरति अनभउ प्रकाश, अमितोजि" है।

७. 'तत्वमसि' की अवधारणा का अनुसरण करते हुए ब्रह्म की विभूतियों का निरूपण 'सर्व' संख्या विशेषण-युक्त शब्दों द्वारा इस प्रकार किया गया है—

सरब पालक। सरब घालक। सरब का पुनि काल।
सरब काले। सरब पाले। सरब खापे। सरब थापे।
सरब गउने। सरब भंगे। सरब धंधे।
सरब करता। सरब हरता। सरब माने।
सरब रसे। सरब रंगे। सरबं दृस्सं। सरबं कृस्सं।

'त्रिमाने' (तीनों लोकों में मान्य), त्रिवर्गे आदि में 'त्रि' संख्या-विशेषण तथा 'प्रभोगे', सुहागे, निधाने आदि में 'प्र', 'सु', 'नि' उपसर्ग से भी ब्रह्म की सर्वज्ञता, सर्व-शक्तिमान, व्यापकता आदि को व्यक्त किया गया है।

'नेति' 'नेति' और 'तत्वमसि' के उभयपक्षीय रूपों को 'जापु साहब' में विपरीतार्थक अथवा परस्पर-विरोधी गुणात्मक शब्दों द्वारा इस प्रकार प्रकट किया गया है—

एकै	अनेकै
अकाल	सरब काल
अरूपे	सरब रूपे
अभेवे	देवे
अकर्मी	सरब कर्मी
राजान राज	रकांन रंक
नमो साँत रूपे	नमो कलह करता

इस प्रकार 'जापु साहब' में ब्रह्म के स्वरूप-निरूपण के सन्दर्भ में 'एकता' और 'अनेकता', 'अंधकार' और 'प्रकाश', 'योग' और 'भोग', 'शत्रुता' और 'मित्रता' का एक साथ वर्णन हुआ है।

नमसतं सु एकै/नमसतं अनेकै/नमो जोग जोगे/नमो भोग भोगे।
नमो अंधकारे/नमो तेज तेजे/नमोकलह कर्ता/नमो सान्त रूपे।

८. ब्रह्म के विराटत्व का बोध कराने के लिए 'जापु साहब' में अनेक देशों, वेशों, धर्मों, मतों, सम्प्रदायों में परमात्मा की विभूतियों के सूचक शब्दों का प्रयोग किया गया है।

जैसे—सरगुन निरगुन निरंकार ॥
सुन्न समाधि आपि ॥
नमो सरब देसे।
नमो सरब भेसे।

वह सूर्यों का सूर्य, चन्द्रमाओं का चन्द्रमा है, वही अंधकार है, वही प्रकाश। वह सूर्यों का सुखाने वाला (आदित सीकै) है—

नमो सूरज सूरजे। नमो चन्द्र चन्दे।
नमो अंधकारे। नमो तेज तेजे।

वह अति प्रचण्ड, अखण्ड गति, चारों दिशाओं में व्याप्त, चारों दिशाओं का पालक एवं ज्ञेय तथा चारों दिशाओं में मान्य है—

अति दुति प्रचण्ड। मिति गति अखण्ड।
चतर चक्र करता। चतर चक्र हरता।
चतर चक्रवती। चतर चक्र भरती।

वस्तुतः, वह समस्त ब्रह्माण्ड-स्वरूपा 'कॉसमिक' है, पंच तत्व से स्वतन्त्र परम तत्व है—नमो परम ततं। अनन्त सरूप।

उपर्युक्त शब्दावली एवं पद-रचना ब्रह्म के इस रूप को समर्थता से व्यक्त करती है।

९. स्तुतिपरक रचना होने के कारण 'स्तोत्र' में भक्ति की भाव-प्रवणता के साथ-साथ इष्टदेव के शील, शक्ति, सौन्दर्य सम्बन्धी गुणों का वर्णन होना स्वाभाविक ही है। 'जापु साहब' में भी प्रभ् की कृपालुता, दयालुता, करुणा, त्राता, रक्षक, पोषक, शक्तिमत्ता एवं सुन्दरता आदि गुणों का निरूपण वैष्णवों, संतों एवं इस्लामी परम्परा की शब्दावली

में इस प्रकार हुआ है—

नमसतं रहीमे। नमसतं करीमे।
नमसतं सरब दयाले। नमो सरब पाले।
कि कामल करीम है। कि राजक रहीम है।
रोजी दहिंद है। कि राजक रहिंद है।

इसके लिए प्रभु के लिए पोखं। कृपाले। उदारे। अजीते। अभीते। परम ज्ञाता। अमितोजं। प्रमार्थ। प्रमाथे। लोकमाता। रोग हरता। सदा अंग संगे। अभंगं विभूते। कलंक बिना। नेकलंकी। रूप रसाले। परम रूपे। सरब रूपे—आदि का प्रयोग हुआ है।

१०. इस प्रकार के स्तुतिपरक वर्णनों में एक विलक्षण बात यह सामने आती है कि पहले कुछ छन्दों में कवि भारतीय अध्यात्म-परम्परा की शब्दावली में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करके स्तुति करता है, फिर कुछ छन्दों में इस्लामी परम्परा से फारसी शब्दावली में उसकी विभूतियों एक विशेषताओं को व्यक्त करता है और फिर कुछ छन्दों में दोनों प्रकार की शब्दावली का एक-साथ प्रयोग करके दोनों संस्कृतियों के मेल का उदाहरण प्रस्तुत करता है। जैसे—भारतीय परम्परा में—अभंग। अजंग। अभेख। अलेख। अनादि। जगदि। अनित। सुनित आदि के रूप में ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करके 'जापु साहब' में इस्लाम धर्म के अनुसार उस प्रभु की स्तुति इस प्रकार की गई—

रोजी रजाकै (आजीविका देने वाला)। रहीम रिहाकै (मोक्षदाता)। पाक विआवै (परम पवित्र)। गैबुल गैव (इन्द्रियातीत)। अफूअल गुनाह (पापों को क्षमा करने वाला)। शाहन शाह (राजाओं का राजा)। कारन कुनिंद (कारण कर्ता)। राजक रहीम। करमं करीम (करुणामय)। फहीमै (प्रज्ञावान)। आकल अलामै (बुद्धि-विद्या का स्वामी)। साहिब कलामै (वाक्यपति)। हुसनल वजू (परम सुन्दर आकृति वाला)। तमामुल रुजू (सब की ओर ध्यान देने वाला)। हमेसुल सलामै (शाश्वत)। सलीखत मुदामै (सनातन सृष्टि वाला) इत्यादि। परमात्मा के ऐसे अनेक अन्य गुणों का वर्णन इसी भाषा-शैली में 'जापु साहब' में किया गया है। इस्लामी परम्परा से ग्रहीत अल्लाह, रहीमे, करीमे शब्दों का प्रयोग इस रचना में अनेक बार किया गया है।

वैष्णवी एवं इस्लामी दोनों परम्पराओं के अभिधानों एवं विशेषताओं का एक साथ प्रयोग इस प्रकार हुआ है—

गुविंदे। मुकंदे। हरीअं। करीअं।

११. वैष्णव तथा इस्लाम-धर्मावलम्बियों के अतिरिक्त योगियों की 'अदेस', 'अदेसं', 'अदेसं', 'जोग जोगे', 'नमो धिआन-धिआने'; ज्ञानमार्गियों की 'नमो मंत्र मंत्रं। नमो जंत्र-तंत्रं'। आदि शब्दावली का भी 'जापु साहब' में प्रयोग किया गया है। इस प्रकार उसके स्तुति-पद सभी साधना-मार्गों से ग्रहण किए गए हैं, जिससे स्पष्ट है कि 'जापु साहब' के अनुसार वह ब्रह्म सभी धर्मों, मतों, पंथों, सम्प्रदायों, देशों, जातियों का है। किसी एक धर्म, जाति या वर्ग का नहीं। किन्तु, साथ ही 'जापु साहब' में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि वह ब्रह्म इन सभी धर्मों-सम्प्रदायों से परे है। वह धर्मातीत है, वह 'अधरमे' है,

वह अभेखी है। वह तो बस कुकरमं प्रणासी (कुकर्मों का नाश करने वाला) और 'सुधरमं विभूते' है।

१२. गुरु गोबिन्दसिंह ने ब्रह्म की स्तुति करते समय ब्रह्म की विभूतियों, लक्षणों, गुणों की सूचक शब्दावली विविध धर्मों अथवा मतों की अवश्य ली, किन्तु उनका प्रभु शैवों, वैष्णवों, ज्ञानमार्गियों, कर्म-काण्डियों, योगियों, मुसलमानों में से किसी एक का नहीं है, बल्कि सब का है। उसे किसी भी नाम, किसी भी लक्षण, किसी भी अभिधान, किसी भी गुण, किसी भी शब्द से स्मरण कर लिया जाए। वैष्णवों की मान्यतानुसार न वह स्वर्ग में है, न इस्लामी मान्यतानुसार सातवें आसमान पर रहता है। उसका कोई लोक नहीं है वह 'अधामे' है। लक्ष्मी, पार्वती, सरस्वती जैसी कोई स्त्री भी उसकी नहीं है —वह 'निरबामें' है। उसका कोई धर्म अथवा मज़हब भी नही है—वह 'अमजबे' है, वह 'अभवने' है—अधामे निरवामे अधरमे।

१३. युग-चेतना के अनुरूप गुरु गोबिन्दसिंह ने 'जापु साहब' में अकाल पुरुष के भैरव, तेजस्वी एवं शक्ति सम्पन्न रूप का निरूपण ओजस्वी भाषा में किया है। उनका ब्रह्म युग-चेतना से सम्बद्ध विभूतियों का स्वामी है। वह अधर्म और अन्याय का नाश करने के लिए शस्त्र धारण करता है, इसीलिए कवि उनकी स्तुति अस्त्र-शस्त्र धारणकर्त्ता एवं युद्ध-जयी शब्दों में इस प्रकार करता है—

नमो ससत्र पाणे। नमो असत्र पाण।
नमसतं अजीतै। नमसतं अभीते।

'जापु साहब' के अनुसार वह 'अमितोज' है, नित नारायण 'क्रूर करमे' है। दुष्टों के विनाश के लिए वह रोष भी करता है, इसीलिए 'नमो रोख रोखे' से उसकी वंदना की गई है। वह युद्ध में दुष्टों के अहंकार को नष्ट करने वाला है और उन पर विजय प्राप्त करता है। ब्रह्म के इस 'क्रूरकरमी' शूरवीर रूप की स्तुति 'जापु साहब' में इस प्रकार ओजस्वी भाषा में की गई है—

गरब गंजन सरब भंजन। नमो जुद्ध-जुद्धे।
गरब गंजन दुसट भंजन। मुकति दाइक काम।

गुरु गोबिन्द सिंह मनुष्य-मात्र को समान मानते थे और वर्ण-वर्ग विषमता एवं जाति-पाति के विरोधी थे। इसी प्रवृत्ति का बोध कराने के लिए 'जापु साहब' में भी परमात्मा के स्वरूप-वर्णन में उसे जाति-पाति रहित बताया गया है। उसकी न कोई जाति है न पांति—

चक्र चिह्न अरु वरण जाति पाति नहिन जिह।
न जातै। न पातै।

१४. इस प्रकार 'जापु साहब' का प्रत्येक शब्द ब्रह्म के स्वरूप का परिचायक है, एक अनुभव है, एक चेतना है, एक कथा है, एक दर्शन है। गुरु गोबिन्दसिंह ने 'जापु साहब' में 'अलख', 'अरूप' आदि संस्कृत के तत्सम तथा 'पोख', 'असभ' आदि तद्भव शब्दों के अतिरिक्त फारसी के शब्दों का भी प्रचुरता मे प्रयोग किया है। संस्कृत एवं फारसी के शब्दों

के साथ हिन्दी की विभक्तियों का भी प्रयोग हुआ है। कई स्थानों पर हिन्दी और फारसी की शब्दावली का संयुक्त रूप से प्रयोग किया गया है, जैसे 'समसतुल निवासी', 'नमो साह साहं', 'नमो भूप भूपे'। फारसी के शब्दों पर संस्कृत के अनुस्वार अथवा विभिक्त लगाने का विलक्षण प्रयोग 'जापु साहब' में द्रष्टव्य है। कुछ उदाहरण देखिए—

नमसते अमजबे / नमसते अजबे / मुदामै सलामै / फहीमं / बिआबै / रहीमे / करीमे/वस्तुतः 'जापु साहब' में भाषा सम्बन्धी कुछ नये प्रयोग देखने को मिलते हैं। शब्द किसी भी भाषा का हो, संस्कृत का तत्सम शब्द हो या तद्भव, हिन्दी का हो या पंजाबी का, अरबी का हो या फारसी का, स्थानीय बोली का हो या ग्राम्य, गुरुजी ने अ, आ, निर, अन आदि उपसर्ग; सु, सरब, भि आदि विशेषण तथा 'ऐ' आदि विभक्तियों का प्रयोग सभी भाषाओं के शब्दों के साथ स्वतन्त्रता से किया है। उस भाषा की प्रकृति एवं व्याकरण की दृष्टि से वह भले ही मेल न खाता हो। ऐसे कुछ प्रयोग दृष्टव्य हैं—

अथापे। अझंझ (झगड़े से रहित)। अनझंझ। अनरंज। अनटूट। अनठट। असूझ। असरगे। निरबूझ / निलंभ। निरनाथे। निरसंगी। निरसाके। निरसीक। त्रिमानं। त्रिभंगीं (तीनों भवनों के नाशक)।

कुछ तत्सम, तद्भव एवं देशज शब्दों के अन्तिम वर्ण को द्वित्व करके लिखने की अपभ्रंश की प्रवृत्ति भी 'जापु साहब' में दिखाई पड़ती है। यथा—

अखिज्जे। अभिज्जे। प्रसिज्जे।
अखल्ल।अटल्ल। अचल्ल। अलक्ख।

'जापु साहब' की काव्य-भाषा की एक उल्लेखनीय विलक्षणता उसकी फारसी-हिन्दी मिश्रित शैली है। यथा—

बहिसतुल निवास है। समतुल निबासी। सरबल गबन है।
हमेसुल अभेख है। जमीकुल जमा है। अमेकुल इमा है।
मनि मन सलाम। गुनि गन मुदाम।

कहीं-कहीं 'अनुप्रास' अथवा 'पुनरुक्तिप्रकाश' अलंकारों की सहायता से भी स्तुतिपरक आवेग का वातावरण निर्मित करने का प्रयास किया गया है। यथा—

अनुप्रास— खलखण्ड खिआल। धृत धर धुरास।
अधो उरब अरघं अघं ओघ हरता।

पुनरुक्तिप्रकाश— नमो भान भाने। नमो मान माने।
नमो चन्द्र चन्द्रे। नमो भान भाने।
नमो गीत गीते। नमो तान ताने।
नमो नृत नृते। नमो नाद नादे।

समानार्थक दोहरे शब्दों में उच्चारण से भी भक्ति के मनोवेगों के अनुरूप संगीतात्मक ध्वनि एवं लय की सृष्टि करने में सहायता मिलती है और भावों की प्रेषणीयता अधिक प्रभावपूर्ण हो जाती है। इसी प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

अक्रितक्रित हैं। अम्रिताअम्रित हैं।
अम्रताम्रित हैं। करुणाक्रित है।
अक्रिताक्रित हैं। अम्रिताम्रित हैं।
अजबाक्रित हैं। अम्रिताअम्रित हैं।

एक से शब्दों का एक ही अथवा दो-तीन छन्दों में इस तरह का प्रयोग 'जापु साहब' की निजी विशेषता है। परिनिष्ठित एवं सहज शैली में भी स्तुति के कुछ पद द्रष्टव्य हैं—

जगतेस्वर हैं। परमेश्वर हैं।
करुणाकर हैं। विस्वंभर हैं।
सरवेस्वर हैं। जगतेस्वर हैं।

'जापु साहब' में स्तुति-गान के उपयुक्त लघु-गुरु के अवरोह से उच्चरित लयवाले भुजंगप्रयात, चाचरी, रसावल, मधुभार, हरिबोलमना, चरपट, रुआल आदि छंदों का प्रयोग ही अधिक हुआ है। इन की संगीतात्मकता भी भक्ति का वातावरण निर्मित करने में बहुत सहायक हुई है।

9

संत-योद्धा सिंहों की होली

पंजाब में गुरुओं ने तुरक शासन के अन्याय, अधर्म, अत्याचार एवं अनीति के विरुद्ध सैनिक एवं सांस्कृतिक आन्दोलन का सूत्रपात किया था, इस युग में यहाँ बहुत बड़ी संख्या में ऐसे काव्य ग्रंथ लिखे गये, जिनमें भारतीयों की सांस्कृतिक-चेतना, स्वातन्त्र्य भावना, सामाजिक दृढ़ता, वीरता एवं उत्साह की व्यंजना हुई है। पंजाब के इस हिन्दी-साहित्य में होली भी इन्हीं भावनाओं से अनुप्राणित होकर प्रकट हुई है। सिक्ख धर्म-योद्धाओं के लिए युद्ध फाग के उल्लास-उत्सव के समान है। वाण उनके लिए कुंकम समान हैं, ढाल डफ के समान है और बंदूकें पिचकारी तुल्य हैं। वे गुलाल के भाले, तुफंगों की पिचकारियाँ तथा कृपाणें लेकर शूरवीरों के साथ फाग खेलते हैं और उनसे जो श्रोणित निकलता है वह केसर के समान शोभित होता है। होली के वीर रसपूर्ण ऐसे ओजस्वी वर्णन पंजाब के अनेक काव्य-ग्रंथों में उपलब्ध होते हैं, जिनमें चेती के रूप में युद्ध गीत अथवा 'गुरु शब्द' गाए जाते हैं। ढोल, डफ, मंजीर के स्थान पर धौंसों की धुंकार सुनाई पड़ती है, खेलने वाले गुटकों की बजाय आयुध धारण किये हुए हैं, भौंडे स्वाँगों के स्थान पर 'रिपु को खंडित करने' अथवा 'जंग जीतने' के करतब करते हैं। 'दशमग्रंथ', 'गुरु शोभा', 'महिमा-प्रकाश', 'नानक प्रकाश', 'गुरु प्रताप सूरज' आदि से ऐसे कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

पंजाब के हिन्दी साहित्य में सर्वाधिक प्राणवान एवं सशक्त रचना 'दशक ग्रंथ' है। इसका लगभग एक तिहाई अंश (कोई 6000 छन्द) वीर रसात्मक हैं। कवि ने पौराणिक अवतार कथाओं को भी 'वीर काव्यों' के रूप में प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ के वीर-भावना से ओत-प्रोत होली के दो उदाहरण देखिए--

इह विध फाग क्रिपानन खेले।
सोभत ढाल माल डफ मालै मूठ गुलालन सेले।
जान तुफंग भरत पिचकारी सूरन अंग लगावत।
निकसत स्रोणं अधिक छबि उपजत केसर जान सुहावत।
स्रौनत भरी जटा अति सोभत छबहि न जात कह्यो।
मानहु परम प्रेम सो डार्‌यो ईंगर लागि रह्यो।
जह तह गिरत भए नाना विधि साँगन सत्र परोए।
जानुक खेल धमार पसार कै अधिक श्रमित ह्वै सोए।

(पारस अवतार : 118)

यहाँ शूरवीर ढाल, भाले, कृपाण लेकर युद्ध नहीं कर रहे हैं, वरन् वे तो डफ, गुलाल आदि लेकर फाग खेल रहे हैं। आहत होकर जो योद्धा युद्ध-भूमि में गिरे पड़े हैं, वे मानो अत्यधिक धमार की मादकता से थक कर सोए हुए हैं। इसी प्रकार निम्न छन्द में भी युद्ध का फाग के रूप में वर्णन किया गया है—

बान चले तेई कुंकम मानहु मूठ गुलाल की साँग प्रहारी ।
ढाल मनो डफ माल बनी हथ नाल बंदूक छुटे पिचकारी।
स्रउन भरे पट वीरन के उपमा जन घोर कै केसर डारी।
खेलत फाग कि बीर लरै नवला सी लिए करवार कटारी।

(कृष्णावतार: 1385)

पंजाब में वीर-काव्यों की एक ऐसी समृद्ध परम्परा है जो युग की साँस्कृतिक-चेतना से स्पंदित एवं राष्ट्रीय-भावना से अनुप्राणित है। इनमें सबसे प्रथम रचना सेनापति की 'गुरु शोभा' है, जो कि दशमगुरु के जीवन पर आधारित एक ओजपूर्ण वीरकाव्य है। इसमें से युद्ध-क्रीड़ा से आरोपित होली वर्णन का एक उदाहरण देखिए—

खेलत सूर महा रन मैं बन मैं मानो श्याम जी फाग मचाइओ।
दउरत सूर लीए कर मैं पिचकारन जो सु बंदूक चलाइओ ।
स्रोनत धारि चली तिनके तनते मानहु लाल गुलाल लगाइओ।
बागे बने तिनके तन लाल मनो रंगरेज रंगे रंग लिआइओ। (20/366)

इन प्रबन्धों में 'महिमा प्रकाश' पहली ऐसी रचना है जिसमें सभी गुरुओं का जीवन वृत अवतारी रूप में चित्रित किया गया है। उसमें भी युग की वीर-भावना उजागर है। होली के रूप में युद्ध का एक उदाहरण उसमें से यहाँ दिया जा रहा है—

तीर तुफंग सूर तन खचे। मानो फाग खेल तहा मचे ।
चखे रुधर धार मानो पिचकारी। भई लाल रंग धरती रन सारी।

(152/33)

वीर-भावना इस युग के कवियों में इतनी प्रबल है कि गुरु नानकदेव जी की चरित्र-कथा में भी किसी-न-किसी रूप में वे अपनी इस भावना की अभिव्यंजना कर ही देते हैं। भाई संतोखसिंह द्वारा रचित 9700 छन्दों का काव्य 'नानक प्रकाश' एक ऐसा ही ग्रंथ है। इसमें एक प्रसंग में युद्ध को फाग का रूप देते हुए कवि ने देखिए कितना भव्य चित्रण किया है—

दिवस चढ़े मंड्यो रण भारी। छुटति तुफंग मनहु पिचकारी। 60
साँग प्रहारहिं मूठ गुलाल। ढालैं बनी मनहुँ डफ माला ।
भक-भक धाउ शबद तिन केरा। निकसी मीझ अंबीरं गेरा।
श्रोणत वसत्र रंग भए लाला। मानहु रंग पतंगी डाला ।
कर महिं चमक रही करवारैं। छुटी मनहु फूलन की धारैं।
मारि मारि मुख गावहिं गीता। खेलति फाग मनहु करि प्रीता।
भए निसंग वीर इक बेरा। बज्यो मार सों मार घनेरा ।

(उ. प. 27 : 60-63)

'गुरु प्रताप सूरज' (संतोख सिंह) इस युग की एक महान कलाकृति है, जिसमें 51829 छन्द हैं। हिन्दी में इतने बड़े आकार की रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई। गुरुमुखी लिपि में होने के कारण यह भी अभी तक अंधकार के गर्त में पड़ी रही। इसमें सभी गुरुओं एवं बंदा बहादुर का चरित्र अत्यन्त विस्तार से वर्णित है और इसमें सांस्कृतिक पुनरुत्थान एवं वीरभावना की प्रधानता है।

इस रचना के होली वर्णन में जहाँ एक ओर सांस्कृतिक वातावरण प्रस्तुत किया गया है वहाँ उनमें कवि की वीर भावना भी मुखरित हुई है। होली खेलने निकलने पर सिक्खों के धौंसों की धुंकार सुनाई पड़ती है, वे आयुध धारण किये हुए हैं; रिपु को खंडित करके मानो विजय उत्सव मना रहे हैं—

बाजति हैं सिंह पौर के ठौरनि, नौबत श्रौन अनंद उपावें।
झंडै उचेरे खरे बहु झूलति, धौंसे धुंकारति नाद उठाबैं।
(रि. 3 : 27 : 6)

···बिसद बरन के बसन सो अरन्न भए,
मानो जंग जीत कै विलासनि करति है।
(रि. 3 : 27 : 11)

गुरु गोबिन्दसिंह ने मुगल-शासन के विरुद्ध सैनिक विद्रोह का ही संचालन नहीं किया, वरन् पूर्ववर्ती गुरुओं ने इस्लामी संस्कृति का मुकाबला करने के लिए पंजाब में जिस सांस्कृतिक आन्दोलन का सूत्रपात किया था, उसे भी अग्रसर किया। हिन्दुओं के सांस्कृतिक विश्वासों एवं सामाजिक संगठन को दृढ़ करने के लिए उन्होंने होली, विजयदशमी आदि पर्वों को भी बड़ी धूमधाम से मनाया। उनके इन उत्सवों का परवर्ती सिक्ख कवियों ने बहुत विशद और भव्य चित्रण किया है। ऐसे वर्णनों में शुद्ध सांस्कृतिक दृष्टिकोण प्रधान रहा है। इन कवियों ने होली के हास उल्लासमय रंगीन और मस्ती से भरे वातावरण का संजीव वर्णन किया है।

'महिमा प्रकाश' सबसे पहला ग्रंथ है जिसमें गुरु गोविन्दसिंह के होली खेलने का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। उसके कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं—

उड़ति अंबीर केसर पिचकारी। प्रिथम संगत सतगुर पर डारी।
खेलत चले सतगुर नद तीर। सतद्रुव भए लाल गंभीर।
लाखन हाथ ते उडत गुलाल। लाख पिचकारी चलत बिसाल।
उड़त गुलाल भइआ लाल अकास। भए बादल लाल घटा प्रगास।
सीतल मंद सुगंध बिआर। संगत सपरस होत सुख सार।
संगत स्रो सोहत गुर भाई। जिउ उडगन को चंद सुहाई।
इन्द्र सभा संगत गुर बनी। गिआन इन्द्र सोहत गुर धनी।
होली बिलास सतिगुर कीआ सभ संगति लाल गुलाल।
मानो केसू बन फूला देखति सतगुर दिआल ॥ 12 ॥

यहाँ मादक मधुऋतु की मंद-मंद एवं सुगंधित पवन के स्पर्श से पुलकित सिक्ख संगतों एवं गुरुजी के उल्लास पूर्वक होली खेलने का कवि ने स्वतन्त्र एवं पूर्ण चित्र अंकित किया

है । एक सुथरा अपना मुँह, सिर और तन काला करके वहाँ आ उपस्थित होता है और अपनी विकृत आकृति और वक्र वाचालता से सबका मनोरंजन करता है। कवि ने उसके आगमन द्वारा प्रसंग में हास्य-विनोद का अच्छा वातावरण प्रस्तुत कर दिया है।

लोकनायक महाकवि संतोखसिंह ने 'गुरु प्रताप सूरज' में श्री हरिगोबिन्द एवं गुरु गोबिन्दसिंह के होली खेलने का बहुत ही रोचक, मार्मिक, विशद एवं काव्यमय चित्रण किया है। उनके वर्णनों में इतनी पूर्णता एवं चित्रात्मकता है कि होली का समग्र मादक चित्र नेत्रों के सम्मुख आ उपस्थित होता है। गुरु गोबिन्दसिंह के आनन्दपुर में होली खेलने के प्रसंग में से कुछ ही उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं। इनसे उस मस्ती से भरे उल्लासमय उत्सव का एक रूप सामने आएगा—

भूर मिले चहु कोद ते मोदति आवति है मिलि टोल हजारा।
भीर भई भरपूर भयौ पुरि भाउ भरे भल भाग लिलारा ।। 4
ताल, रबाब, पखावज के बहु बादति बाजति है धुनि भारी।
गावति रागनि रागनी को जन आइ खरे निज मूरत धारी।
होति उछाह जहाँ कहिं डोलति बोलति है जैकार सुनावैं ।
मेल सकेल भयो रंग मेलति भीर धकेलति पेलति जावैं ।
फेंटन को भरिकै सभि आप अंबीर गुलाल को डारति हैं।
हाथनि मैं पिचकारी भरे बहु ऊपर गेर न्हलावति हैं ।
पीत भए बहु अंबर लाल बिसाल सु बेग ते चालति है।
एक निहालती हैं, इक भालति, एक संभाल उतालति हैं। 7
श्री गुबिंदसिंह करि होरी को बिलन्द साज,
हाथ पिचकारी सभिहूँन भरि लीनिओ।
उड्यौ एक बार ही गुलाल लाल घटा मानो
रंगनि की बूँद बरखाति इम चीनिओ।
रंगदार अंबर कै रंगदार अंबर कै,
मूठ भरि मारैं, रंग डारति नवीनिओ।
ब्रिन्दु गुलाल अंबीर उडै, गहि केसर की गिरबैं पिचकारी। 8
संगति श्री गुर पै अलता कर को भरि डारति पूरबवारी ।
आपस में पुन गेरति है पट लाल भए सभि के इक सारी ।
धन्न गुरू सिख कीनि निहाल, क्रिपाल बिसाल सुनाइ उचारी। 9
एक संग रंगु भए, सभि के सुरंग अंग,
अंबर धरे जु निचुरति अति चीनिओ।
अवनी अकाश लाल भई सभि भासु रही,
मानो अनुराग निज रूप धरि लीनिओ। 14

(रि. 3 : 27)

कितना सजीव और रंगीन चित्र है होली का। हम नहीं समझते कि हिन्दी में किसी भी कवि ने होली का ऐसा स्वाभाविक, सजीव एवं स्वतन्त्र चित्रण किया है।

भाई संतोखसिंह ने श्री हरिगोबिन्द के होली खेलने का भी ऐसा ही सजीव चित्रण किया है। श्री हरिगोबिन्द जिस समय होली खेलने निकलते हैं, उनकी वेश-भूषा एवं व्यक्तित्व का चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है—

पोशिश बिसद महिद वपु पाई। निकसे चाचर हेतु गुसाईं।
मंद मंद मुसकावति आए। कमल बिलोचन ते बिकसाए। 22
सवा गिलशत सभिनि ते ऊचे। बोलति दिपत दसन दुति सूचे।
भुज दंडिनि जनु सुंड प्रचंडे। जिन ते खंड खंड रिपु दंडे।
अरन बरण अरु पीत बिसाले। केतिक पिचकारी जुति चाले।
अलता ब्रिन्द गुलाल अंबीर। ले करि पहुँचति भे सिख तीर।
(रा. 8 : 52 : 26)

उनके सिक्खों के साथ होली खेलने का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—

गावैं शबद मोद चहँ कोद। बरसति रंग गुलाल पयोद।
फरश बिसाल करायहु चारू। सुभट मिले सभि आयुध धारू।
उडति गुलाल घटा जनु होई। रंग बूँद बरखति है सोई।
जनु संध्या मिलिबि कहु आई। हरिगोबिन्द मुख चंद सुहाई।
छुटति अंबरीन मूठ बडेरी। दुहि दिशि ह्वै करि हेलो गेरी।
होली खेल छुटति पिचकारी। भरि भरि मूठ सामुहे डारी।
ब्रिन्द मसंद संगतां संग। खेलति फाग डारि बहु रंग।
देखति सभि मन मुदति बिसाल। पर्यो बदन पर जम्यो गुलाला।
सभि के बरन लाल हुइ गए। चित्रित बसन बचित्रति भए।
इम सतिगुर बह करे बिलासा। सिक्ख मसंद मिले गन दासा।
(रा. 52 : 18-31)

इस रंगीन एवं उल्लासपूर्ण वातावरण से होली का सम्पूर्ण चित्र सम्मुख आ जाता है। यहाँ होली खेलते समय गुरुदेव, मसंद, अन्य सिक्ख तथा दास, सभी सम्मिलित हैं, किसी प्रकार का भेद भाव नहीं, कोई असमानता नहीं। योद्धा आयुध धारण किए हुए ही होली के रंग में रंगे हुए हैं।

इस प्रकार होली खेलते समय गुलाल की एक घटा सी उमड़ पड़ी, सुगन्ध चारों ओर फैल गई, बसंत के मंद मंद पवन से सिक्खों का मन प्रफुल्लित हो उठा, घेरा घेर कर एक दूसरे पर रंग डालते हुए उनका शरीर केसर ओर गुलाल से ऐसा सराबोर हो गया है कि वे पहचाने भी नहीं जा सकते। चारों और होली का ऐसा आनन्दपूर्ण कोलाहल मचा हुआ है मानो युद्ध जीतकर योद्धा विलास कर रहे हों—

बादर गुलाल के करति जाति चले गुर,
संगति मैं धूम पई फाग बड़े खेलते
घेरि घेरि बदन पै गेरि गेरि फेर फेर,
हेरि हेरि हरखति नेरे हुइ मेल ते।

उठै महिकार गंध पाई पौन मंद मंद,
सीतल बहित सिख अंगन मैं झेलते।
निकसे आनन्दपुर मानति अनन्द ब्रिन्द,
तीर सतुद्रव के गए हैं रेल पेलते॥ 10
कीने सिख संगति दुपास खरै आपस मैं,
डारि डारि मूठ पिचकारी सों भिरति हैं।
बदन शमश अरु केसरी पै गयो जम,
रंग की फुहार फेर ऊपर ढरति है।
होति न चिनारी इक सारी सभि होइ गए,
रौर को मचीवैं दौर ठौर न टरति हैं।
बिसद बरन के बसन सौ अरंन भए,
मानो जंग जीत कै विलासनि करति है।
श्री कलगीधर संगति में सुर बिन्द ज्यों इन्द्र बिराजति हैं।
जादव मैं जिम श्री घनश्याम महान ही कौतक साजति है।
(रि. 3 : 27 : 12)

गुलाल, अम्बीर एवं रंगरंजित इन चित्रों में होली का समूह चित्र और भी अधिक सजीव हो गया है। होली के इस उल्लास में मानो उनका चिर आकांक्षित विजयोल्लास मुखरित हो उठा है। 18वीं, 19वीं शती की विलासपूर्ण जर्जरित सामाजिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार के वर्णन विशेष महत्व रखते हैं। ये वर्णन मध्ययुगीन सिक्ख-कवियों की भारतीय संस्कृति के प्रति दृढ़ निष्ठा, हिन्दू-सिक्ख संस्कृति की अभिन्नता, सामाजिक संगठन, राष्ट्रीय जागरण एवं युग-चेतना को प्रकट करते हैं। आतंकवादी मुगल शासकों के युग में पंजाब की जनता ने जिस अडिग आस्था, आत्मविश्वास, वीरता, धैर्य निडरता एवं दृढ़ता का परिचय दिया, उसकी झलक मस्ती से भरे होली के इन रंगीन चित्रों में देखी जा सकती है।

10
संत रविदास का जीवन दर्शन

मनुष्य ने सहस्त्रों वर्षों की विकासयात्रा में अपने जीवन को अधिक सुखमय, सुव्यवस्थित, सार्थक एवं सुन्दर बनाने के लिए अपनी बुद्धि और विवेक से अनेक नियमों, मूल्यों एवं मार्गों का अनुसंधान किया और आदिम-नैसर्गिक वृत्तियों का परिष्कार एवं उन्नयन करके 'मानव' से 'अतिमानव', 'मर्यादापुरुषोत्तम' अथवा 'देवत्व'के पद को प्राप्त करता चला गया। पाश्चात्य दार्शनिक जहाँ मनुष्य को एक 'सामाजिक पशु'[1] के रूप में देखकर उसकी आन्तरिक, अदमित, नैसर्गिक वृत्तियों का विश्लेषण करते हैं, वहीं भारतीय मनीषी मनुष्य की दैविक शक्तियों का उद्‌घाटन और उन्नयन करके 'नर' को 'नारायण' के रूप में देखने का प्रयास करते रहे हैं। जीवन को देखने-परखने और जीने की दृष्टि का यह अन्तर ही दो संस्कृतियों के अन्तर को स्पष्ट करता है और रविदास जी जैसे संतों के जीवन-दर्शन को एक अलग विशिष्ट पहचान देता है।

भारतीय मनीषियों, ऋषियों-मुनियों ने दीर्घकालीन अपनी तपस्या, साधना, चिन्तन और मनन के आधार पर एक विशिष्ट जीवन-दर्शन का अनुसंधान किया था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भारतीय परम्परा में जीवन के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन की एक ही प्रवृत्ति रही है। इसके विपरीत यहाँ स्वतन्त्र चिन्तन को प्राथमिकता दी गई है। यही कारण है कि आस्तिक, अनासक्त, निवृत्तिमूलक एवं त्यागमय जीवन-दर्शनों के समान्तर यहाँ नास्तिक प्रवृत्तिमूलक, आसक्तिवादी एवं भोगवादी दर्शनों का भी प्रवर्त्तन हुआ है और इन दोनों दर्शनों के समन्वय के भी प्रयास हुए।

जहाँ तक मध्ययुगीन संतों के जीवन दर्शन का सम्बन्ध है, उसमें वैदिक एवं लोकायत दोनों परम्पराओं का अद्‌भुत सामंजस्य हुआ है। जो काफी सीमा तक उस युग के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश की देन भी है और उस युग की माँगों, चुनौतियों और सरोकारों के अनुकूल भी है।

जीवन-दर्शन से अभिप्राय है कि मनुष्य जीवन के सन्दर्भ में हमारी क्या धारणाएँ अथवा मान्यताएँ हैं ? जीवन में हम 'सर्वोपरि' क्या मानते हैं समाज का जीवन कैसा हो

---

1. मानव मूल रूप में एक विकसित पशु है जिसका जीवन कुछ आनुवंशिक संस्कारों या प्रवृतियों द्वारा तथा अनुभवाधारित ज्ञान द्वारा संचालित होता है।

और कैसे जीवन का उत्कर्ष किया जाए और उसे सार्थक, आनन्दित कैसे किया जा सकता है ? ऐसे सभी आदर्श और मूल्य जिनसे यह संभव हो सके जीवन-दर्शन के तत्व हैं।

मध्ययुगीन सभी भक्तों एवं सन्तों की भाँति सन्त रविदास की भी ब्रह्मा में पूर्ण आस्था है, जिसे वे परमतत्व, परमसत्य, अनादि, अगम, अगोचर, अजन्मा, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयालु एवं कृपालु मानते हैं। जगत को मिथ्या, शरीर को क्षणभंगुर, सांसारिक सम्बन्धों और सुखों को नश्वर मानते हैं। आध्यात्मिकता, भक्ति, नामस्मरण, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि में भी उनकी निष्ठा है। वे भी अन्य सन्तों की भांति अहंकार, लोभ, मोह, क्रोध, काम, मत्सर, ईर्ष्या, द्वेष, वैर आदि को त्याग कर दया, करुणा, विनम्रता, सत्य, समता, सन्तोष, परोपकार, सहयोग आदि को जीवन का आदर्श मानते हुए, स्वच्छ हृदय से सत्कर्म करते हुए, हरि-स्मरण करने में ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। उनके लिए जीवन का यही सर्वोपरि लक्ष्य है। इसी से उनका जीवन-दर्शन प्रेरित एवं परिचलित है।

रविदास किसी एक विशिष्ट दर्शन से जुड़े हुए नहीं थे। यही कारण है कि कोई उनमें अद्वैतवादी दर्शन के तत्व खोजता है, कोई शुद्धाद्वैत के। कुछ जैन धर्म के विचारों के आलोक में उनकी वाणी के विवेचन का प्रयास करते हैं, तो कुछ बौद्ध धर्म के प्रभाव का अन्वेषण करते हैं। वस्तुतः, भारतीय अध्यातम में वैदिक, औपनिषदिक, पौराणिक, बौद्धों एवं जैनियों आदि की मान्यताओं की जो लौकिक परम्पराएँ प्रचलित थीं, उन सभी का सम्मिलित प्रभाव हमारे जीवन पर रहा है। रविदास जैसे लोकजीवन से जुड़े सन्तों ने भी इन सभी के सार एवं सार्थक तत्वों को इस मौखिक परम्परा से आत्मसात करके एक सहज समन्वित जीवन-दर्शन का अनुसरण किया और इसी का प्रतिपादन अपनी वाणी में किया। अतः, सन्त रविदास में सहज, सार्थक, सदाचारी, संयमी, अध्यात्मनिष्ठ जीवन से सम्बन्धित इन सभी धर्मों, मतों, विचारधाराओं के तत्व परिलक्षित होते हैं। मन, वाणी, कर्म की एकता, करनी और कथनी में समानता, उनकी वाणी की विशिष्टता है। मानवता के उच्चादर्शों का वे स्वयं पालन करते थे और चाहते थे कि सब उन्हीं आदर्शों पर चलें। उनका जीवन दर्शन मानवतावादी दर्शन है।

रविदास के जीवन दर्शन की विशिष्टता के निम्नलिखित चार प्रमुख लक्षण हैं। ऐसा नहीं है कि अन्य सन्तों में वे तत्व उपलब्ध नहीं है। अन्तर इतना ही है कि रविदास ने उन पर विशेष बल दिया है और उनका प्रतिपादन विशदता से किया है। ये लक्षण हैं—

(1) हरिनाम-स्मरण
(2) मानवतावादी दृष्टि एवं मानवीय सद्वृत्तियों का जीवन में सन्निवेश
(3) सत्कर्म और सदाचार
(4) श्रम का महत्व

सन्त रविदास की मान्यता है कि कोटि पाप-कर्म करने पर भी हरि-स्मरण से मनुष्य का उद्धार हो जाता है। नाम ही प्रभु की आरती के ज्योति, दीप, बाती, चन्दन, पुष्प, माला आदि उपकरण है। 'नाम' करोड़ों यज्ञों के समान है।

वस्तुतः, सन्तों का 'नाम-स्मरण' एक साधारण धार्मिक अनुष्ठान नहीं है। वरन्, यह एक उच्च व्यावहारिक जीवन के आदर्श का परिचायक है। क्योंकि, नाम-स्मरण प्रभु-

प्रेम से ही सम्भव है और सन्तों के लिए प्रभु-प्रेम और मानव प्रेम[2] अभिन्न हैं। प्रभु-प्रेम की उपलब्धि अहंकार को त्याग कर काम, क्रोध, लोभ, मोह से मुक्त रहकर, विषय-वासनाओं से निर्लिप्त रहकर, सत्संगति एवं सेवा के द्वारा; सदाचार, संयम, सन्तोष का सात्विक जीवन व्यतीत करने से ही हो सकती है। अतः, नाम-स्मरण के पीछे एक स्वस्थ, स्वच्छ, सात्विक संयमित आदर्श जीवन-दर्शन विद्यमान है।

प्राणिमात्र की मंगलकामना करते हुए ऋषि कहता है—

सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वेसन्तु निरामयाः
सर्वेभद्राणि पश्यन्तुः मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।

अर्थात्, सभी सुखी हों, सभी नीरोग हों, सभी का कल्याण हो, किसी को भी दुःख न हो।

साथ ही वह समस्त वसुधा की एक कुटुम्ब के रूप में कल्पना करता है। (वसुधैव कुटुम्बकम्)। समस्त ब्रह्माण्ड को वह उस ब्रह्म का ही रूप मानता है। ब्रह्म की कल्पना 'तत्वमसि' के रूप में करता है जो उसकी इसी मानवतावादी दृष्टि की परिचायक है। क्योंकि जब वह ब्रह्म ही सबकुछ है, प्राणिमात्र ब्रह्म का ही रूप है, तब असमानता अथवा विषमता कैसी? अपने और पराये का, ऊँच और नीच का भेद कैसा? मानवीय समता और पारस्परिक सहयोग की इसी भावना का प्रतिपादन करते हुए 'ऋग्वेद' में कहा गया है—'पारस्परिक सहयोग और सहायता करना मानवता का प्रथम कर्त्तव्य है।' (ऋग्वेद 6/75/14)। इसी तथ्य को और स्पष्ट करते हुए 'अथर्ववेद' में कहा गया है कि 'हे प्रभु! मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मैं मनुष्यमात्र के प्रति, चाहे मैं उसे जानता हूँ या नहीं सद्भाव रख सकूँ' (17/1/7)।

परमात्मा और जीवन की अभिन्नता का प्रतिपादन 'उपनिषदों' में और भी स्पष्टता से किया गया है। 'ईशावास्योपनिषद' के एक मन्त्र में कहा गया है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमदुच्यते।
पूर्णमस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

आत्मा और परमात्मा की इसी एकरूपता का निरूपण करने वाले ऋषि ने वर्ग, वर्ण तथा जन्म आदि के आधार पर मानवीय असमानता को कभी स्वीकार नहीं किया। इसी प्रकार सन्तों की मान्यता है कि जीवात्मा न तो मनुष्य है, न देव है, न यति है, न अवधूत है, न माता है, न पुत्र है, न गृही है, न उदासी है, न राजा है, न रंक है, न ब्राह्मण है, न बढ़ई है, न तपस्वी है, न शेख है, यह तो उस राम का ही एक अंश है और उसी भाँति नहीं मिट सकता जैसे स्याही का चिह्न नहीं मिटता। —कबीर

गुरु गोबिन्दसिंह ने भी बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस मान्यता को बड़े सहज रूप में प्रकट किया था, यथा—

---

2. बन खोजई पिअ न मिलहिं बन महि प्रीतम नाहिं।
रविदास पिअ है बसि रह्यौ मानव प्रमहि माँहि॥
रविदास दर्शन साखी—18

तूही ! तूही ! तूही ! तूही ।
तूही ! तूही ! तूही ! तूही ॥

जब सब कुछ 'वही' है और मनुष्य की जाति एक है (मानुष की जाति सभै एको पहिचानिबो) । तब तू, तेरा, मैं, मेरा का विवाद किस लिए ?

वस्तुतः, सन्तों ने कभी भी मनुष्य-मनुष्य के बीच का अन्तर स्वीकार नहीं किया और जाति-पाति का विरोध प्रकारान्तर से मानवमात्र की एकता का प्रतिपादन करने के लिए ही किया ।

सन्त रविदास ने मानवीय समानता और एकता का प्रतिपादन बड़ी निष्ठा और विशदता से किया है । उनके अनुसार सभी मनुष्य एक ही माटी के बने हुए हैं । सृजनहार परमात्मा सबमें समान रूप से विद्यमान है, वह घट-घट में निवास करता है और सभी को एक दृष्टि से देखता है । क्या ब्राह्मण और क्या शूद्र । सब एक बूंद से ही उत्पन्न हुए हैं, मूर्ख लोग ही वर्ण-भेद में विश्वास रखते हैं, जाति-पाति का यह भेद ही मनुष्यता का घातक बना हुआ है ।[3]

वस्तुतः, मानवीय समानता और एकता में विश्वास संत रविदास का मुख्य जीवन-दर्शन है । यही कारण है कि वे जन्म के आधार पर किसी को ऊँचा या नीचा न मानकर कर्म के आधार पर उसे श्रेष्ठ अथवा निकृष्ट मानते हैं । इसीलिए उन्होंने चारों वर्णों की नये ढंग से व्याख्या की है और स्पष्ट किया है कि ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने से ही कोई ब्राह्मण नहीं हो जाता और न ही शूद्रों के कुल में जन्म लेने से कोई शूद्र होता है । विषय-वासनाओं से मुक्त रहकर जो व्यक्ति ब्रह्म को प्राप्त करता है वही ब्राह्मण है । दीन दुःखियों की रक्षा के लिए जो अपने प्राणों को न्यौछावर करता है वही क्षत्रिय है । पवित्र कमाई

---

3. (क) सभ महि एकु रामहु जोति सभनह एकउ सिरजनहारा ।
रविदास राम रमाहि सभन मंहि ब्राह्मण हुई क चमारा ॥

(ख) एकै माटी के सभ भांडे सब का एकौ सिरजनहार ।
रविदास व्यापै एकौ घट भीतर सभ कौ एकै घड़े कुम्हार ॥

(ग) रविदास उपजई सभ इक बूँद ते का ब्राह्मन का सूद ।
मूरख जन न जानइ, सभ मँह राम मजूद ॥

(घ) रविदास इक ही बूंद सो सभ ही भयो वित्थार ।
मूरखि हैं जो करत हैं, बरन अबरन विचार ॥

(ङ) जातपात के फेर मँहि उरझि रह्यो सभ लोग ।
मानुषता कूँ खात हइ रविदास जातकर रोग ॥

(च) इक नजिर सों सभ कूँ देखइ, सरिष्टि का सिरजनहार ।
सब घट व्यापक अलख निरजन, कहि रविदास चमार ॥

करने बाला ही वैश्य है और अहंकार रहित होकर जो सेवा का पवित्र कार्य करता है वही सच्चा शूद्र है।[4]

उनकी मान्यता है कि गुणहीन ब्राह्मण की पूजा कदापि नहीं करनी चाहिए। लेकिन, यदि चाण्डाल भी गुणयुक्त हो तो उसके चरणों की वन्दना करनी चाहिए। इसी प्रकार हिन्दू-मुसलमान, राम-रहीम, कृष्ण-करीम, कतेब-कुरान आदि में भी उन्हें कोई अन्तर नहीं दिखायी पड़ता। उनकी दृष्टि में मन्दिर-मस्जिद एक ही है, राम-रहीम में भी कोई अन्तर नहीं है, काबा और काशी में भी कोई भेद नहीं है। वे न मस्जिद से घृणा करते हैं और न मन्दिर से प्यार। क्योंकि, उन्हें न मन्दिर में राम दिखायी पड़ता है और न मस्जिद में अल्लाह। उनकी मान्यता है कि हिन्दू-मुसलमान दोनों के हाथ, पाँव, नाक, कान जब एक जैसे हैं, तो उन्हें भिन्न-भिन्न क्यों समझा जाये। इन दोनों का सम्बन्ध तो कनक और कंगन जैसा है। उनकी दृष्टि निश्चय ही मानवतावादी थी और वे मनुष्य को केवल मानव के नाते महान मानते थे। वहाँ मान-मर्यादा, वैभव, ऐश्वर्य, कुल और जाति का कोई महत्व नहीं है। जाति, वर्ण, वर्ग के आधार पर विषमता के वे कट्टर विरोधी थे और मानवीय समता की स्थापना करना उनके जीवन का उच्चतम आदर्श था।[5] मानवीय समता एवं एकता के साथ-साथ उन्होंने मानवीय गुणों को भी अत्यधिक महत्व दिया है। क्योंकि सद्वृत्तियों एवं सद्गुणों से ही मानवीयता की प्रतिष्ठा होती है। सन्त रविदास

---

4. जन्म जात कूँ छाडि करि, करनीं जान परधान।
   इह्यौ वेद कौ धरम है, करै रविदास बखान॥
   ब्राह्मण खतरी बैस सूद, रविदास जनम ते नाहिं।
   जो चाहइ सुबरन कऊ, पावई करमन माँहि॥
   रविदास जन्म के कारनै होत न कोइ नीच।
   नर कूँ नीच करि डारिहौ ओछे करम कौ कीच।
   ऊँचे कुल के कारने ब्राह्मण कोय न होय।
   जउ जानहि ब्रह्म आत्मा, रविदास ब्राह्मण सोय॥
   दीनदुखी के हेत जउ, बारै अपने प्रान।
   रविदास वैस सोई जानिये जउ सत कार कमाय।
   पुन कमाई सदा लहै लोरै सर्वत सुखाय॥
   रविदास ब्राह्मण मति पूजिए जउ होवै गुनहीन।
   पूजहिं चरन चंडाल के जउ होवै गुनपरवीन॥
   सब हरिजनन करि सेवा लागै, मन अहंकार न राखै।
   रविदास सद सोई धन है, जउ असत वचन न भाखै॥

5. (क) कृष्न करीम राम हरि राघव जब लग एक न पेखा।
   बेद कतेब कुरान पुरानन सहज एक नहीं देखा॥
   (ख) मस्जिद सो कछु घिन नहीं, मंदिर सो नहीं पिआर।
   दोउ मह अल्लाह राम नहीं, कह रविदास चमार॥

की मान्यता है कि जिन मनुष्यों में दया-धर्म नहीं है, वे महापापी हैं और जो पंच दोषों से मुक्त हैं और जिनके हृदय में सत्य का निवास है वे ही मनुष्य ऊँचे हैं।[6] रविदास सत्य, सन्तोष और सदाचार को ही जीवन का आधार मानते थे और पाँचों विकारों से मुक्त व्यक्ति को देवता कहते थे।[7]

वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है—'ऋत' अर्थात सत्य। 'ऋग्वेद' के अनुसार यह पृथ्वी सत्य पर ही टिकी हुई है (ऋग्वेद 10/8/5/1)। 'शतपथ ब्राह्मण' के अनुसार 'सत्य एक अजेय अस्त्र है' (शतपथ 3/4/2/8)। तथा 'असत्यवक्ता की पवित्रता नष्ट हो जाती है' (शतपथ 3/1/3/18) इसीलिए ऋषि प्रार्थना करता है कि 'समस्त दैवी-शक्तियाँ मुझे सत्य पर दृढ़ रहने की शक्ति प्रदान करें (यजुर्वेद 20/11/12)। सन्त रविदास ने अपने जीवन-दर्शन में सत्य को अत्यधिक महत्व दिया है। उनका कथन है कि श्रेष्ठ जीवन वही है, जिसमें सत्य प्रधान हो, सत्य के समान दूसरा कोई धर्म नहीं। जो मनुष्य सत्य को त्यागता है, वह मृतक के समान है। जो मनुष्य सत्य नहीं बोलते, उनसे कभी बात तक नहीं करनी चाहिए।[8]

सन्त रविदास ने अन्य सन्तों की भाँति सहज मानवीय धर्म के लिए और उच्च आदर्श मानवीय जीवन के लिए सदाचरण को भी विशिष्ट महत्व दिया है और आचरण के निषेधात्मक एवं विधेयात्मक दोनों पक्षों का प्रतिपादन दृढ़ता से किया है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, परपीड़न, अहंकार, वैर, भोगविलास आदि को वे जीवन के निषिद्ध तत्व मानते हैं और इन्द्रियों के इन विकारों का अवरोध करने का आग्रह करते हैं तथा शुद्ध सात्विक जीवन पर बल देते हैं। समता, सहयोग, सद्भाव, परोपकार, दया, नम्रता, दीनता, क्षमा, शील, सन्तोष, संयम को वे जीवन के स्पृहणीय गुण मानते हैं, जिनसे मनुष्य का जीवन सुखी एवं सार्थक होता है और वह आनन्द प्राप्त करता है। इन्द्रियों को वश में रखकर सुख-दुःख को समान समझकर, 'निर्वैर' और अलिप्तता का जीवन व्यतीत करने से ही 'अमृतपद' की प्राप्ति होती है। यही स्वस्थ, सात्विक आचरण उनके जीवन-दर्शन का मेरू-

---

6. (क) दया धर्म जिन्ह में नहिं, हिरदै पाप को कीच।
रविदास तिनहि जानिहो, महापातकी नीच॥
(ख) जिन्ह करि हिरदे सत बसई, पंच दोष बसि नाहिं।
रविदास तौ नर ऊँच भये, समुझि लेहु मन माहि॥
7. सत सन्तोष अरु सदाचार, जीवन को आधार।
रविदास भये नर देवते, जिन तिआगे पंच विकार॥
8. (क) जिन्ह नर सन्त तिआगिआ, तिन्ह जीवन मिरत समान।
रविदास सोई जीवन भला, जहँ सभ सत परधान॥
(ख) रविदास सत मति छाडिए, जौ लौ घट में प्रान।
दूसरो कोउ धरम नाँहि, जग महिं सत समान॥
(ग) जो नर सत्य न भाषहिं, अरु करहिं विसासघात।
तिन्हहु सो कबहु भुलिहि, रविदास न कीजहि बात॥

दण्ड है।[9] ऐसे व्यक्ति को ही महात्मा बुद्ध की 'अप्पौदीपो भव' संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। सन्त रविदास के अनुसार 'श्रेष्ठ साधु वही है जो संसार की मोह-माया, विषय-वासनाओं में लिप्त नहीं होता। 'निर्वैर' रहता है। काम, क्रोध आदि जिसके हृदय में व्याप्त नहीं हैं, अहंकार और घृणा, तृष्णा को त्याग कर जो समताभाव को धारण करता है, जो मिथ्या नहीं बोलता, पर-पीड़ा को अनुभव करते हुए परोपकार में संलग्न रहता है और जिसके हृदय में निरन्तर हरि का वास रहता है।'[10] यही मानवीय जीवन का उच्चतम आदर्श है और यही उनका जीवन-दर्शन है।

हिन्दू, इस्लाम, ईसाई, बौद्ध एवं जैन आदि सभी धर्मों में संन्यास जीवन को यथेष्ठ महत्व दिया जाता है। किन्तु, सन्त रविदास की ऐसे संन्यास में आस्था नहीं है, जिसमें गृहस्थ को छोड़कर निष्क्रिय जीवन व्यतीत किया जाता है। संन्यास से उनका अभिप्राय सत्य, संयम, सन्तोष, सदाचार, अनासक्ति एवं निर्लिप्त भाव से 'जीवनमुक्त' जीवनयापन से है।

---

9. (क) काम भ्रम, क्रोध भ्रम, लोभ भ्रम, मोह भ्रम।
पंच संइया मिलि पीडयाँ प्राणियाँ॥
(ख) जो बस राखे इन्द्रियाँ सुख दुःख समझि समान।
सोउ अमरितपद पाइगो कहि रविदास बखान॥
(ग) रविदास जो आपन हेत ही, पर कूँ मारन जाई।
मालिक के दर जाइ करि, भोगाहे कड़ी सजाई॥
(घ) तज अभिमान मेटि आपा पर पिपलक हवै चुणि खावै।
(ङ) बुधि अरु विवेकहिं जउ राखन चाहौ पास।
इन्द्रियाँ संग निरत कौ तजि देहु रविदास॥
(च) दया, नम्रता, दीनता, छिमा, सील, सन्तोष।
इनकूँ लै सुमिरन करै, निस्चै पावै मोछ॥
(छ) परहित सरिस धरम नहीं भाई।
पर पीड़ा सम नहीं अधमाई॥
(ज) संजमि रह्यौ न हरिहूँ सिमरियौ।
बिरथा भ्रम्यौ रू भ्रमायौ॥
(झ) दया भाव हिरदै नहीं, भखहिं पराया मास।
ते नर नरक महँ जाईहिं, सत भाखै रविदास॥
10. (क) रविदास सोई साधु भलो जो मनह दोष मिटाय।
उर महँ आपा न थापइ, तृस्ना आस जलाय॥
(ख) रविदास सोई साधु भलो, जउ जग महि लिपत न होइ।
गोविन्द सों राचा रहइ, अरु जानहिं नहिं कोय॥
(ग) रविदास सोई साधु भलो, जउ रहइ सदा निरवैर।
सुखदाइ समता गहइ सभनहिं माँगहि खैर॥ (शेष अगले पृष्ठ पर)

नेक कमाई करने से गृहस्थ में ही घर में प्रभु मिल जाते हैं।[11] कर्म में उनकी दृढ़ आस्था है और कर्म को ही वे धर्म मानते हैं। कर्म और धर्म में वे कोई अन्तर नहीं मानते।[12] दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि वे धर्मानुकूल कर्म को ही महत्व देते हैं और धर्मविहीन कर्म को सुखदायी नहीं मानते। रविदास का विश्वास है कि धर्म समझकर निष्काम भाव से कर्म करने से ही इच्छित फल की प्राप्ति होती है। जो व्यक्ति हरि-नाम का स्मरण करते हुए अपने हाथों से 'श्रम' करता है, वही ईश्वर को प्राप्त करता है।

उनके लिए कोई भी कर्म न छोटा है न बड़ा है। वे स्वयं जीवनभर चमार का कार्य करते रहे। न उन्हें कभी इससे ग्लानि हुई न संकोच। कर्म कोई भी हो 'सुकिरत' होना चाहिए। ऐसे कर्म से आवागमन में भटकना नहीं पड़ता।[13] 'श्रम' के महत्व का प्रतिपादन करते हुए रविदास कहते हैं कि जो व्यक्ति 'श्रम' को ही ईश्वर मानकर चलता है वह सदा सुख शान्ति प्राप्त करता है।[14]

(घ) रविदास सोइ साधु भलो जिनि मन निर्मल होय।
राम भजहि विषया तजहि मिथभाषी न होय॥

(ङ) रविदास सोइ साधु भलो जउ जानहि पर पीर।
पर पीरा कहुँ पेखि के, रहवे सदहि धीर॥

(च) रविदास सोइ साधु भलो जो पर उपकार कमाय।
जाइ सो ई कहहि बइसेइ करहि आपा नाँहि जताय॥

(छ) रविदास कहै जाके रिदै, रहै रैन दिन राम।
सो भगता भगवन्त सम क्रोध न व्यापै काम॥

11. नेक कमाई जउ करहि ग्रह तजि बन नहिं जाय।
रविदास हमारा राम राय, ग्रह मँहि मिलहि आय॥

12. (क) धरम करम दुइ एक है, समुझि लेहु मन माहिं।
धरम बिना जो करम है, रविदास न सुख तिस माहिं॥

(ख) सौ बरस लौ जगत मंहि, जीवत रहि करु काम।
रविदास करम ही धरम है, करम करहु निहकाम॥

(ग) जिह्वा सों ओंकार जप हत्थन सों कर कार।
राम मिलहिं घर आइ कर कह रविरास विचार॥

(घ) धर्म समुझि जो कार हुई, इह कर फल होई इष्ट।
रविदास कोउ भी करम फल होहि नाहि अनिष्ट॥

13. अब की बेर सुकिरत करीजा।
बहुरि न यह भव पायवे॥

14. स्रम कउ ईसर जानि के जउ पूजहि।
रविदास तिन्हि संसार मंह सदा मिलहि सुख चैन॥

इसीलिए वे बार-बार इस बात पर ज़ोर देते हैं कि जब तक सम्भव हो 'श्रम' करके जीवन का निर्वाह करना चाहिए, क्योंकि 'नेक कमाई' कभी निष्फल नहीं जाती।[15] सुख-दुःख, हानि-लाभ को समदृष्टि से देखने वाला व्यक्ति ही रविदास की दृष्टि में सच्चा योगी है और दीन-दुखियों की सेवा से ही प्रभु मिलन सम्भव है।[16]

सन्त रविदास ऐसी शासन व्यवस्था के पक्षधर थे जो स्वाधीन हो और जहाँ सबको अन्नजल मिल सके और सब छोटे-बड़े समानता का जीवन व्यतीत कर सकें।[17] वे स्वाधीनता के समर्थक थे और पराधीनता को अभिशाप मानते थे। पराधीनता विदेशी राज से भी सम्बन्धित है और विषय-वासनाओं की दासता से भी।[18]

उपर्युक्त परिकल्पनाओं के आधार पर ही वे ऐसे 'बेगमपुरा' नगर की कल्पना करते हैं जो पूर्ण सुखधाम है तथा दुख, द्वेष, भय, शंका, चिन्ता, शोक आदि से सर्वथा मुक्त है।[19]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि दार्शनिक मतों के प्रपंच में न पड़कर सन्त रविदास ने अध्यात्मनिष्ठ सहज-सात्विक, स्वस्थ एवं सन्तुलित जीवन-दर्शन का प्रतिपादन किया है।

---

15. रविदास स्रम करि खाइहि जौ लौ पार बसाय।
    नेक कमाई जउ करई, कबहुँ न निहफल जाय॥
16. दीन दुःखी करि सेवा महँ लागि रह्यो रविदास।
    निसि वासर की सेव सैं प्रभु मिलन की आस॥
17. ऐसा चाहौ राज हौ जहाँ मिले सबन को अन्न।
    छोटे बड़ो सभ सम बसै रविदास रहै प्रसन्न॥
18. पराधीन पाप है जान लेहु रे मीत।
    रविदास पराधीन सौं कोन करे हे प्रीत॥
19. वेगमपुरा सहर को नाउ।
    दुख अदोहु नहीं तिहि ठाउ॥
    रविदास जु है बेगमपुरा, उह पूरन सुख धाम।
    दुख अंदोह अरु द्वेष भाव, नाँहि बसहि तिहि राम॥

11

उदासी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक बाबा श्रीचंद जी और सिक्ख गुरु

मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन को विकसित करने में अनेक मतों, सम्प्रदायों एवं पंथों का योगदान रहा है। उदासी-सम्प्रदाय भी इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान का अभिन्न अंग है। इस सम्प्रदाय का संगठन अभी भी काफी मज़बूत है। चार धूणों व छः बख्शीशों एवं अनेक उप-बख्शीशों के रूप में अनेक स्थानों पर इनके बड़े-बड़े अखाड़े हैं।

गुरु नानक ने स्वयं कहा है कि, "मैं गुरमुख की खोज करने के लिए उदासी हुआ हूं। 'निवासी' होकर भी मैंने 'उदासी भेष' उसी के दर्शनार्थ धारण किया है।[1] गुरु नानक की चारों धर्म-यात्राओं को भी 'उदासियों' की संज्ञा दी जाती है। यही कारण है कि उदासी-सम्प्रदाय के बहुत से साधु गुरु नानक को ही उदासी-सम्प्रदाय के आदि संचालक मानते हैं।[2] सिखमत के प्रमुख व्याख्याता भाई गुरुदास भी गुरुनानक को उदासी रीति के प्रवर्त्तक के रूप में स्मरण करते हैं। लेकिन, साथ ही यह भी कहते हैं कि अपनी उदासियों के पश्चात् उन्होंने अपना उदासी भेष उतारकर गृहस्थियों के समान वस्त्र धारण किया।[3] उदासी-सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ कवि संतरेण ने अपने प्रबन्धकाव्य 'गुरु नानक दिग्विजय' (छन्द संख्या 24382) में लिखा है कि गुरु नानक ने उदासी वेश धारण करके उदासी पंथ को अन्य पंथों का शिरोमणि बनाया।[4] यहाँ गुरु नानक यह भी कहते हैं कि उनका पुत्र श्रीचन्द उदासी पंथ को उजागर करेगा और वे स्वयं गुरदित्ता के रूप में

---

1. किस कारणि गृहु, तजिओ उदासी। किसु कारणि इहु भेखु निवासी।
   गुरमुखि खोजत भए उदासी। दरसन कै ताई भेखु निवासी।
   (आदिग्रन्थ, पृ० 939)
   उद्धृत, गुरुमुखी लिपि में हिन्दी काव्य (डॉ० हरभजन सिंह), पृ० 129
2. गुरु नानक विजय 1/1/2/3
3. डॉ० हरभजन सिंह गुरुमुखी लिपि में हिन्दी काव्य, पृ० 135
4. पूरन गुरु नानक भयो पूरन हरि अवतार।
   पंथ उदासी तिन किउ सभि पंथनि सरदार (नानक विजय, मं० खं० 9/9)

अवतरित होंगे, (गुरुदित्ता ही श्रीचन्द के उत्तराधिकारी के रूप मे प्रतिष्ठित हुए थे)।

सामान्यतः, श्रीचन्द को ही उदासी-सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक माना जाता है। सिक्ख-परम्परा के अनुसार गुरु नानक ने उत्तराधिकार के रूप में गुरु-गद्दी अपने पुत्र श्रीचन्द तथा लखमीचन्द को न देकर अपने परम श्रद्धालु शिष्य लहणा को दी, जिसे गुरु अंगद के रूप में गुरुपद पर प्रतिष्ठित किया। इससे उनके बहुत से अनुयायियों ने गुरु अंगद की गुरुता को अस्वीकार करके श्रीचन्द का अनुकरण किया और इस तरह उन्होंने उदासी-सम्प्रदाय का संचालन किया। श्रीचन्द आरम्भ से वैरागी जीवन व्यतीत करते थे, वे आजीवन अविवाहित रहे, तप और तपस्या में लगे रहे, लम्बी जटाएँ रखते थे और नंगे रहते थे। उनकी संसार से इस उदासीनता के कारण ही वे उदासी-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक माने गए। अन्यथा, विद्वानों का यह भी मत है कि 'उदासी पंथ' का प्रचलन पहले से था। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य श्री गंगेश्वरानन्द महाराज तथा उनके प्रशिष्य स्वामी सर्वज्ञ मुनि जी की मान्यता है कि ब्रह्मा जी के पुत्र सनक जी इस सम्प्रदाय के आदि आचार्य थे और श्रीचन्द जी गुरु-गद्दी की 108वीं पीढ़ी में आते हैं।[1]

श्री गंगेश्वरानन्द जी ने 'उदासी' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है।

उद—ब्रह्म, आसीन—स्थित। अर्थात्, जो ब्रह्म में स्थित हो, अथवा ब्रह्म रूप हो।[2] निःसन्देह, इस प्रकार की मान्यताएँ भारतीय चिन्तनधारा में अति पुरातन हैं। आरम्भ में अन्य संत मतों की भाँति यह मत भी निर्गुणवादी था, लेकिन धीरे-धीरे इसमें सगुणोपासना का प्रवेश होता गया और यह पूर्ण रूप से सनातन धर्म का एक अंग-सा बन गया है, जिसमें वेदों, उपनिषदों के ज्ञान की निष्ठापूर्वक चर्चा की जाती है, पुराणों की कथाएँ सुनाई जाती हैं और पंचदैवोपासना (ब्रह्म, विष्णु, शिव, गणेश, गौरी) का विधान है। संतरेण ने गोरखनाथ के विष्णु के नामावतार नानक के पुत्र श्रीचन्द के रूप में अवतरित होने की कल्पना करके उदासी पंथ में भक्ति के साथ योग का समन्वय करने का भी प्रयास किया।

गुरु-काव्य परम्परा के सर्वप्रमुख कवि भाई संतोखसिंह ने अपने प्रख्यात काव्य-ग्रन्थ 'गुरु नानक प्रकाश' में श्रीचन्द जी के जन्म का वर्णन संक्षेप में ही किया है। उनके अनुसार गुरु नानक के 32वें वर्ष में प्रवेश करने पर श्रीचन्द का जन्म हुआ, जिससे समस्त परिवार में अत्यधिक हर्षोल्लास का संचार हुआ। नानकी को तो ऐसे लगा जैसे रोगी को अमृत मिल गया हो। देखिए—

तिहकाल में साल बतीस की बैस सरीर धरे बितए सुखरासा।
निपज्यो सिरीचन्द महाँ सुखकन्द-अनन्द बढ़ा परवार हुलासा।
सुनि ता छिन नानकी अंग न मावती पावती आमी अमी जिव-पासा।
(नानक प्रकाश, पूर्वार्द्ध 26/56)

---

1. दृष्टव्य, गुरुमुखी लिपि में हिन्दी साहित्य
2. उद् सर्वोत्कृष्टे ब्रह्म संस्थ चतुर्थाश्रमी।
(श्रौत मुनि चरितामृत तरंग-1, पृ० 78-79)

इससे स्पष्ट है कि इनका जन्म 1501 ई० में हुआ था क्योंकि गुरु नानक का जन्म 15 अप्रैल, 1469 को हुआ था। उनके जन्म का वर्णन इससे अधिक यहाँ नहीं है। किन्तु, 'उदासी-सम्प्रदाय' के कवि सन्तरेण ने इस प्रसंग का वर्णन विस्तारपूर्वक अपनी धार्मिक भावना से परिपुष्ट करके अतिमानवीय रूप में किया है। उनके अनुसार सुलक्षणी के अनुनय-विनय पर तथा नानकी के अनुरोध पर गुरु नानक सुलक्षणी की कामना पूर्ति हेतु उसे पुत्र का वरदान देते हैं और इसकी सिद्धि हेतु एक यज्ञ का अनुष्ठान किया जाता है। जिसके सम्पूर्ण होने पर पुरोहित हरिदयाल सुलक्षणी की गोद में एक श्रीफल रखता है। इस श्रीफल में उसी समय गोरखनाथ का अंश प्रविष्ट होता है, और उसी में से श्रीचन्द प्रकट होते हैं।

यहाँ कवि ने एक ओर तो श्रीचन्द की दिव्य उत्पत्ति का निरूपण किया है, दूसरी ओर सिखमत के साथ नाथमत का समन्वय करके उदासी पंथ के प्रवर्तन की ओर संकेत किया है। इसमें मति और योग के समन्वय की ओर भी संकेत है।

श्रीचन्द जी के जन्म के अवसर पर नानकी के घर में जो मंगल-उत्सव होता है, उसका वर्णन कवि संतोखसिंह ने इस प्रकार किया है—

बांधि मनोहर तोरन तूरन उछहि सपूरन कीने।
अंङन बार में मंगन मंगति मंगल होति अमंगल हीने।
ले निज पान दयो धन दान सु नानकी भाग बड़े शुभ-चीने।
अंगना आई बधाई सुनावती या बिधि होति अनंद नवीने।

(नानक प्रकाश, पूर्व० 26/57)

श्रीचन्द जी के जन्म पर उनके माता-पिता के हर्षोल्लास, दुख-विनाशक उनके मुख-कमल को सुखपूर्वक निहारने, उनको दुलारने, मल-मलकर स्नान कराने, चन्द्रमुखी एवं खंजन नयनी स्त्रियों द्वारा अंक में बिठाकर लाड करने, बलिहारी जाने एवं आशिष देने का बड़ा ही मनोहारी वर्णन भाई संतोखसिंह ने किया है—

यथा—

पालति तात दुलारति मात न्हवावत हाथन सों मल बारी।
आनन आरुन जात निहारति आरति हार खिरी मुख बारी।
नारि मयंक मुखी चरव खंजन अंक लड़ावती जावति बारी।
आशिख दे मुख सों 'सुखपाई' सुखाइ खरी सुख सों महितारी।

(गुरु नानक प्रकाश, पूर्व० 26/58)

श्रीचन्द जी के जन्म की सूचना पाकर गुरुजी के माता-पिता को जो आनन्द प्राप्त हुआ, उसका निरूपण कवि ने इस प्रकार किया है —

घनघोर शिखी अरविंद पिखे रवि दारिद ज्यों करि पारस पाए।
बहु भूखे को भोजन तोई तिखंत को साधक साधन ज्यों फल पाए।
रिपु देश लहे नृप चात्रिक स्वांति चकोर, मयंक ते ज्यों हुलसाए।
तिव पोत्रह के जनम्यो सुनिकै मन श्री गुर मात-पिता हरखाए।

(नानक प्रकाश, पूर्व० 26/60)

जैसे घनघटाओं को देखकर मोर आनन्दित होता है, सूर्य के उदित होने पर कमल विकसित हो उठते हैं, दरिद्र पारस को पाकर प्रसन्न होता है; तथा अत्यधिक भूखे को भोजन मिलने पर, प्यासे को पानी पीने से, साधक को साधना की सफलता से, राजा को शत्रु का राज्य प्राप्त होने से, चात्रिक को स्वाँति की बूंद से, चकोर को चन्द्रमा से जो सुख मिलता है, वैसा ही सुख और आनन्द गुरु जी के माता-पिता को पौत्र (श्रीचन्द) के जन्म से प्राप्त हुआ।

सिक्ख-परम्परा के अनुसार गुरु नानक ने अनेक अवसरों पर भार उठाने, वस्त्र धोने, वृक्षों से भोजन गिराने—आदि से सम्बन्धित प्रसंगों में अपने दोनों पुत्रों के आज्ञा-पालन, आत्म-त्याग तथा अहं-विसर्जन आदि की परीक्षा ली, जिस पर वे पूरे नहीं उतर पाए, जबकि उनका श्रद्धालु शिष्य सर्वथा पूरा उतरा और इसीलिये उन्होंने अपने उत्तराधिकारी के रूप में गुरु-गद्दी अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीचन्द को न देकर अपने शिष्य लहणा को प्रदान की और उसे गुरु अंगद के रूप में गुरु-गद्दी पर प्रतिष्ठित किया।

लेकिन, अनेक प्रसिद्ध इतिहासकारों का मत है कि गुरु जी का यह निर्णय व्यक्तिगत रुचि अथवा उपरोक्त प्रसंगों पर ही आधारित नहीं था। वरन् इसका एक सैद्धान्तिक आधार था। गुरु नानक गृहस्थ में एकान्तवासी अथवा संन्यास (A Hermit in thine own home)[1] के सिद्धान्त में विश्वास रखते थे और शुभ-कर्म तथा भक्ति-नाम-स्मरण को मुक्ति का मार्ग मानते थे, जबकि श्रीचन्द की गृहस्थ एवं संसार को त्यागकर वैराग्य-पूर्ण तपस्वी जीवन व्यतीत करने में आस्था थी।

इस सन्दर्भ में 'गुरु प्रताप सूरज' में उद्धृत श्रीचन्द जी के चरित्र एवं आचरण को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। भाई संतोषसिंह ने उनके चरित्र का निरूपण इस प्रकार किया है—

जेठा भी श्रीचन्द उदारा। नहिं ग्रिहसत मग अंगीकारा।
रहै ब्रिती नित जोग अरूढा। इक रस मैं आशै जिस गूढा।
जिनके छुयो बिकार न कोई। जती पुरुष भीशम सम सोई।
ज्ञान बिखै जुग भ्रात समान। श्री नानक के पुत्र सुजान।
सदा जोगरस भोगन करते। जगत वासना नहिं मन बरते।

(गुरु प्रताप सूरज, रा० 1/1/12-15)

गुरुमत में अकर्मण्यता-निष्क्रियता तथा एकान्तवासी (Passive and recluse) के तत्व न आ जाएँ और सिखमत की अलग पहचान बनी रहे, इसलिये उन्होंने श्रीचन्द के स्थान पर गुरु-पद के लिए लहणा का चयन किया, जिसकी उनके सिद्धान्तों में पूर्ण आस्था थी। इन इतिहासकारों के अनुसार संन्यास एवं ब्रह्मचर्य (Ascetism and celibacy) दो ऐसे तत्त्व हैं जो उदासीमत को सिखमत से अलग करते हैं। इसीलिये

---

1. Anil chander Banerjee—The Sikh Gurus and Sikh Religion, p. 168

श्रीचन्द्र जी तथा गुरु नानक का सैद्धान्तिक मतभेद था।[1]

गुरु अमरदास ने भी इसीलिये सिखमत को उदासी मत से अलग रखा।

'दबिस्तान' के अनुसार सिखों की मान्यता थी कि उदासी जिसने संसार को त्याग दिया है, वह किसी भी अन्य मनुष्य से श्रेष्ठ नहीं है।[2]

निःसन्देह, इन इतिहासकारों के मत में पर्याप्त संगति है।

सिख-इतिहास में श्रीचन्द जी श्री गुरु अंगद तथा गुरु अमरदास से भेंट का कोई विवरण उपलब्ध नहीं है। लेकिन, बाद के गुरुओं से उनके काफी अच्छे सम्बन्ध रहे। श्रीचन्द जी छठे गुरु हरगोबिन्द के समय तक विद्यमान रहे और गुरु रामदास, अर्जुन देव तथा हरगोबिन्द से उनकी भेंट के कई रोचक प्रसंग सिख-परम्परा में प्रचलित हैं। गुरु नानक के ज्येष्ठ पुत्र तथा तपस्वी एवं त्यागी होने के कारण ये सभी गुरु उनका बहुत आदर करते थे।

गुरु रामदास जी से उनकी भेंट का उल्लेख करते हुए सन्त साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं—

"गुरु नानक के बड़े लड़के श्रीचन्द ने उदासी सम्प्रदाय की स्थापना की और नग्न भेष में इधर-उधर भ्रमण किया करते थे। उन्होंने गुरु अंगद वा गुरु अमरदास से भी भेंट नहीं की थी। किन्तु, गुरु गोइंदवाल की सीमा तक पहुँच गये। गुरु रामदास ने उनके आगमन की सूचना पाकर कुछ मिष्ठान तथा पाँच सौ रुपयों के साथ उनकी अगवानी की। श्रीचन्द ने इन्हें देखकर कहा कि आपकी दाढ़ी बहुत लम्बी हो गयी है। जिसके उत्तर में गुरु रामदास ने बतलाया कि हाँ आपके चरणों को पोंछने के लिए मैंने इसे बढ़ा रखा है। श्रीचन्द को इस उत्तर ने प्रभावित किया और वे प्रसन्न हो गये।"[3] मैकालिफ[4] तथा प्रोफेसर हरवंश सिंह[5] ने भी इस प्रसंग का उल्लेख इसी रूप में किया है। सिख इतिहास के महान कवि भाई सन्तोखसिंह ने इस प्रसंग का वर्णन अपनी काव्यमयी भाषा में 'गुरु-प्रताप-सूरज' ग्रन्थ में इस प्रकार किया है—

एक दिना श्रीचन्द जी मन महिं करति बिचार।[6]
रामदास अबि गुर भए हम सों कैसे प्यार।

---

1. दृष्टव्य—I. Anil Chander Banerjee—The Sikh Gurus and Sikh Religion, p. 168
   II. Maloolm-Sketches of the Sikhs p., 27
2. Troyer and shea—Dabistan Vol. II, p., 271
   उद्धृत—Anil Chander Banerjee—The Sikh Gurus and Sikh Religion, p. 169
3. आचार्य परशुराम चतुर्वेदी—उत्तरी भारत की संत परम्परा, पृ० 374
4. Max Arthor Macauliffe—Sikh Religion, Vol. II, p. 257
5. Harbans Singh—The Heritage of the Sikhs, p. 40
6. भाई संतोखसिंह, 'गुरुप्रताप सूरज', राशि 2/14/73-79

ऐसे मन महिं करति बिचारी। चले गुदडीए करि असवारी।
सुनि कै रामदास गुर पूरे। तूरन चले प्रेम भरपूरे।
हाथ जोरि करि करी प्रनामू। आने घर महिं बिनै बखानू।
एक सुहय पंचशत रुपय्या। दीनि भेंट बहु सेव कमय्या।
उच सथान श्रीचन्द बिठाए। आप निम्रि करि तरे तकाए।
सिरीचन्द बोले ततकालू। करति प्रखणा प्रेम दिआलू।
इतना दाड़ा कैसे बधायो। सुनि कै सतिगुर भै निम्रायो।
चरन गहे करि प्रेम सों पौछहिं बारंबार।
इस ही हेतु बधाति भे, सुनिए गुरु सुत दयार।
देखि निम्रता गुरु की श्रीचन्द भए प्रसन्न।
अंगद लीनी सेव करि तुमरो प्रेम अनंन।

लगता है, कि उपर्युक्त विद्वानों ने यहीं से यह विवरण ग्रहण किया है।

श्रीचन्द जी के पाँचवे गुरु अर्जुनदेव जी से भी अच्छे सम्बन्ध रहे। 'गुरु प्रताप सूरज' ग्रन्थ के अनुसार श्रीचन्द जी ने अपने सेवक कमलीआ को गुरु अर्जुनदेव के पास एक हज़ार रुपये तथा एक अश्व की भेंट लाने के लिए भेजा था। इस प्रसंग से यह संकेत भी मिलता है कि गुरु जी 500/- रुपये वार्षिक भेंट स्वरूप उन्हें भेजते थे।

भाई सन्तोखसिंह का कथन है कि गुरुजी ने कमलीआ का बहुत स्वागत किया। सहर्ष भेंट देने का आदेश दिया और यह भी कहा कि गुरु-पुत्र हमारे लिए परम पूजनीय हैं :—

श्री नानक नन्द बिलंदे। निज पूजनीय सुखकंदे।
जिम आग्या देय पठाई। हम भेटहिं नहीं कदाई। (रा०4/19/17-18)

यहाँ इसी सन्दर्भ में एक अन्य रोचक प्रसंग वर्णित है।

"गुरुजी का आदेश पाकर कमलीआ भोजन करने के लिए 'देग' के स्थान पर गया, जहाँ माता गंग भोजन वितरित कर रही थीं। वह वहाँ श्रीचन्द के आदेशानुसार खड़ा ही रहा और खड़े-खड़े ही भोजन माँगता रहा। इस पर माताजी ने कहा कि "क्या सिपाही की भाँति खड़े-खड़े भोज़न माँग रहे हो, धैर्य से बैठकर भोजन क्यों नहीं करते।"[1] जब वहाँ से लौटकर कमलीआ ने यह वृत्तान्त श्रीचन्दजी को सुनाया तो तनिक रुष्ट होकर उन्होंने कहा कि एक दिन ये तुरक सिपाही ही उनके घर आएँगे और दुख देंगे।[2] लेकिन, साथ ही गुरुजी के व्यवहार से प्रसन्न होकर यह वरदान भी दिया कि गुरु घर में अश्वों तथा सैन्यबल की अभिवृद्धि होगी। गुरुजी ने होनहार मानकर उनके वचनों को स्वीकार किया। कालान्तर में ये कथन सत्य सिद्ध हुए।

यह प्रसंग 'महिमा प्रकाश' तथा 'गुरु विलास पातशाही' में नहीं है। यह कहना कठिन है कि सन्तोखसिंह का स्रोत क्या है।

---

1. गुरु प्रताप सूरज, रा० 4/28/19-23
2. वही, रा० 3/28/36

छठे गुरु हरगोबिन्द के भी श्रीचन्दजी से आत्मीय सम्बन्ध रहे। प्रोफेसर हरवंश सिंह के अनुसार जब गुरु हरगोबिन्द ने कीरतपुर नगर की स्थापना की तो नयी नगरी की स्थापना का शुभ-कार्य श्रीचन्दजी से सम्पन्न करवाया। बावली के लिए पहली झाड़ी काट-कर ज़मीन खोदने का कार्य भी श्रीचन्दजी ने किया।[1]

गुरु हरगोबिंद के साथ उनके सम्पर्क का यह वृत्तान्त भी सिख-परम्परा में सर्व-विदित है। एक बार गुरुजी की श्रीचन्दजी से मिलने की इच्छा हुई। वे अपने पुत्रों को साथ लेकर योगवृत्ति में लीन तपस्वी श्रीचन्दजी के पास पधारे।[2] तो श्रीचन्दजी ने उनसे कहा कि अपना एक पुत्र हमें दे दो। यह सुनकर गुरुजी ने सहर्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र गुरुदित्ता को उन्हें अर्पित कर दिया। मैकालिफ का यह मत संगत प्रतीत नहीं होता कि गुरुजी ने अनिच्छा से गुरदित्ता श्रीचन्द को सौंपा था।[3] कम से कम सिख परम्परा में यह मान्य नहीं है।

इससे प्रसन्न होकर श्रीचन्दजी ने उन्हें वरदान दिया कि गुरु-घर की सारी बड़ाई, सुख-समृद्धि और मान-प्रतिष्ठा पहले ही उनके पास है। इसके साथ ही अपनी समस्त साधना-तपस्या की प्रतीक अपनी टोपी (कुलही) भी उन्होंने गुरदित्ता को प्रदान कर दी और आशीर्वाद दिया कि इस टोपी के साथ हम संसार की मेंहती, अर्थात् उदासी-सम्प्रदाय का महन्त पद, उसे प्रदान करते हैं। इस सम्प्रदाय का बहुत से लोग अनुसरण करेंगे, चारों दिशाओं में उनकी पूजा होगी। लाखों व्यक्ति यह उदासी वेश धारण करेंगे। समस्त पृथ्वी पर इस पंथ का प्रचार-प्रसार होगा।[4] और इस तरह श्रीचन्दजी ने सभी रिद्धि-सिद्धियों से भरपूर अपनी टोपी गुरुदित्ता के सिर पर रख दी। गुरदित्ता बाबा श्रीचन्द के हो गए और उन्होंने उदासी पंथ का संचालन करने के लिए उन्हें अपने उत्तराधिकारी के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया।

गुरु-परिवार से गुरदित्ता को अपना उत्तराधिकारी बनाने से दोनों मत एक-दूसरे के निकट आए[5] और गुरुमत का उदासी-सम्प्रदाय से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया तथा पारस्परिक मनमुटाव समाप्त हो गया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रीचन्दजी गुरु अंगद से भले ही कुछ रुष्ट रहे

---

1. Heritage of the Sikhs, p. 54; (1 मई 1626 को)
2. सिरीचन्द जिन बैस बिलन्द। जोगी ब्रिती को लेत अनन्द।
   उत्तरी तुरंग ते ले सुत चारी। सिरीचन्द दरसै तपधारी।
   (गुरु प्रताप सूरज, रा० 7/9/9)
3. M. A. Macauliffe—The Sikh Religion, Vol. IV, p. 130
4. गुरु प्रताप सूरज—रा० 5/37/151, रा० 7/9
5. Anil Chander Banerjee—The Sikh Gurus & Sikh Religion, p. 277

हों, किन्तु गुरु-गद्दी के प्रति उनका आदर था। गुरु-परिवार में भी उनके प्रति आदर-सत्कार था। कोई द्वेष नहीं था। वे स्वयं गृहस्थी नहीं थे। किन्तु, गुरदित्ता गृहस्थी थे। उन्होंने उससे गृहस्थ नहीं छुड़वाया और आगे उदासी-सम्प्रदाय उन्हीं से चला।

भाई सन्तोखसिंह के अनुसार इस समय श्रीचन्दजी की अवस्था सौ वर्ष से अधिक थी।[1] प्रोफेसर हरवंशसिंह के अनुसार 15 जनवरी, 1629 को उनका निधन हुआ।[2] इस समय इनकी आयु लगभग 128 वर्ष की थी।

---

1. सौ संमत ऊपर किछ जानो; भई बैस हमरी पहिचानौ।
(गुरु प्रताप सूरज, रा० 5/37/45)

2. The Heritage of the Sikhs, p. 53

12
संत कवि भाई संतोखसिंह की समन्वय भावना

बात उस समय की है जब भारतवर्ष पर अंग्रेजों का राज्य था। भारत पर ही नहीं, आधी दुनिया पर उनका साम्राज्य था और कहा जाता था कि ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता। उस समय किसी ने एक अंग्रेज विद्वान से पूछा था कि यदि एक ओर सारा ब्रिटिश साम्राज्य हो और दूसरी ओर केवल 'शेक्सपियर' और आपको दोनों में से किसी एक को चुनना हो, तो आप किसे चुनेंगे। अंग्रेज़ विद्वान् ने बिना किसी संकोच और हिचकिचाहट के तुरन्त उत्तर दिया था कि 'शेक्सपियर को'। आज ब्रिटिश साम्राज्य समाप्त हो चुका है, लेकिन शेक्सपियर, मिल्टन और बायरन आज भी हमारे और दुनिया के दिलो-दिमाग पर छाए हुए हैं। इस दुनिया में तरह-तरह के सम्राट, चक्रवर्ती, यशस्वी योद्धा हुए, लेकिन पुरातत्ववेत्ता या इतिहासकार, इतिहास की धूल को झाड़-फूंककर भले ही उन्हें जीवित रखना चाहें, लेकिन ऐसे शासक और सम्राट, जिनका स्मरण मानवता आदर और सत्कार से करती है, कम ही हैं। रोम, यूनान, चीन, ईरान, जर्मन और रूस को आज भी यदि विश्व मानवता जानती है तो होमर, दांते, अरस्तु, प्लेटो, मौलाना रूमी, टालस्टाय, दास्तावास्की, कम्फूयसिस के नाम से जानती है। भारत की अपनी अस्मिता और पहचान, गरिमा और प्रतिष्ठा उसके अपने ऋषि-मुनियों, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास और तुलसीदास आदि साहित्यकारों से है; न कि उसके अनेकानेक सम्राटों और छत्रपतियों से। भाई संतोखसिंह ऐसे ही एक अविस्मरणीय युग-स्रष्टा साहित्यकार हैं, जिनसे सिख इतिहास, हिन्दी साहित्य और भारतीय साहित्य ही नहीं, कोई भी साहित्य अपने को गौरवान्वित अनुभव कर सकता है। भाई संतोखसिंह 18-19वीं शताब्दी के एक ऐसे महान् कवि हैं, जिन्होंने भारतीय चिन्तन-परम्परा का अनुसरण करते हुए, उत्तर मध्ययुगीन सांस्कृतिक एवं सामाजिक बोध को नया आयाम दिया और लोक-मंगल की भावना का प्रवर्त्तन करते हुए, मानवीय चेतना के उन्नयन में अद्वितीय योगदान दिया।

कालक्रम की दृष्टि से भाई संतोखसिंह उस युग के कवि हैं जिसे हिन्दी साहित्य में 'रीतिकाल' अथवा 'शृंगार काल' का नाम दिया जाता है और जिसके सम्बन्ध में कहा जाता है कि उस युग के कवि के व्यक्तित्व में चारण, सभा कवि, राजगुरु, आचार्य और भक्त का न्यूनाधिक समन्वय था। इस युग की कबिता राजदरबारों, सामंतों और राजाओं

के आश्रय में पोषित हुई और उसमें उन दरबारों के वैभव और विलासपूर्ण वातावरण के अनुरूप स्त्रैण-भावना, कामुकता, रसिकता और पाण्डित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति की प्रधानता थी। उत्तर मध्ययुगीन भारत के इन राजाओं का जीवन कैसा था—इसका वर्णन संस्कृत साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् 'कीथ महोदय' ने इस प्रकार किया है—"वह राजकुमार अथवा धनी नागरिक इसी खोज में रहता था कि अपने अनुकूल साथी-संगियों को पाकर उनके साथ नागरिक जीवन के आमोद-प्रमोद का उपभोग जारी रखे। उसके निवास स्थान को इसका गर्व है कि उसमें युग की समस्त सुख-सुविधाएँ विद्यमान हों। जैसे मुलायम आसन्दियाँ, उद्यानगत ग्रीष्मगृह, सुकुसुम स्थण्डिलपीठिका, अवकाश के समय साथ में रहने वाली और उसका मनोरंजन करने वाली रमणियों के विनोद के लिए दोलाएँ। उसका पर्याप्त समय प्रसाधन में जाता था। यह आवश्यक है कि वह स्नान करे, तेल की मालिश की जावे, सुगन्धित पदार्थों को लगाया जावे, मालाएँ पहनाई जाएँ। तदन्तर वह चारों ओर लटकते हुए पिंजरों के पक्षियों को बोलना सिखाए अथवा मेषों या कुक्कुटों के युद्ध में क्रूर दृश्यों का आनन्द ले सके, वारांगनाओं के साथ वह नगर के उपवनों में भ्रमणार्थ जाता है और उसके द्वारा अवचित कुसुमों से भूषित होकर घर लौटता है। संगीत समाजों, नृत्य और नाटकीय अभिनयों में भी उसका जाना होता है। उसके पास में ही वीणा रखी है, जिसको वह जब चाहे बजा सकता है। साथ में पुस्तक भी है, अवकाश के समय पढ़ने के लिए। उसकी प्रसन्नता के लिए प्रकृत-विषयक छैल-छबीले दोस्त और तरह-तरह के पिछलग्गू साथी, जिनको पुस्तक में विट, पीठमर्द या विदूषक कहा गया है, आवश्यक होते हैं। पान गोष्ठियाँ भी पाई जाती हैं।···उसके लिए वारांगनाओं का साथ आवश्यक है, परन्तु वे गुणों से सम्पन्न हों। उनको साहित्यिक रसास्वादन की योग्यता के साथ-साथ सर्व-विध ज्ञान से भी सम्पन्न होना चाहिए।···अत्यन्त समृद्ध वेश्याओं के पास बहुत सम्पत्ति होती थी। साहित्य, संगीत और कला के सम्बन्ध में उनके यहाँ जो विचार-गोष्ठियाँ होती थीं, उसमें सम्मिलित होने वालों को अवश्य ही ऐसा आह्लाद होता होगा जिसकी आशा वे अपनी स्त्रियों से नहीं कर सकते थे। अपनी स्त्रियों से तो केवल सन्तानोत्पत्ति और घरों की देखभाल ही चाहते थे।"

कवि पद्माकर ने उस युग की इस दरबारी संस्कृति का वर्णन इस प्रकार किया है—

"गुलगुली गिलमें गलीचा है गुणीजन है,
चाँदनी है चिक है चिरागन की माला है।
कहे 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा है सजी,
सेज है सुराही है सुरा है प्याला है।
शिशिर के पाला को न व्याप्त कसाला तिन्हें,
जिनके आधीन एते उदित मसाला है।
तानतुक ताला है विनोद की रसाला है,
सुबाला है दुशाला है विशाल चित्रशाला है।

(जगत विनोद)

इस वातावरण में लिखी गई थी, हिन्दी की तद्युगीन कविता। स्वाभाविक है कि उसमें जन-जीवन की सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना अथवा लोकमंगल की भावना को उद्दीप्त करने की शक्ति नहीं थी। वह अपने आश्रयदाता राजाओं के मनोविनोद एवं प्रशंसा के लिए लिखी जाती थी। पूर्व-मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन हिन्दी प्रदेश में मन्द पड़ चुका था और हरि-भक्ति इस युग के 'रीति कवि' के लिए 'कवियों के रिझाने' अथवा "राधिका कन्हाई सुमिरन को बहाना' मात्र थी। डॉ० नगेन्द्र के शब्दों में उसमें विलास की सरिता दोनों कूलों को तोड़कर बह रही थी।...उसमें शरीर सुख की साधना है, जिसमें न आध्यात्मिकता का आरोप है न वासना का उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने का उचित-अनुचित प्रयत्न।" (रीति काव्य की भूमिका, पृ० 173)

इन कवियों की भक्ति-भावना सम्बन्धी कविता के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि "रीति कवियों के विलास जर्जर मन में इतना नैतिक बल ही नहीं था, कि वे भक्ति रस में आस्था प्रकट करते। उनकी रचनाओं में भक्त कवियों की सी ताज़गी और उल्लास के स्थान पर एक प्रकार की क्लान्ति और अवसाद है, भगवान के प्रति रागात्मक उन्मेष की जगह हत् तेज मन की दीनता और आत्म भर्त्सना है।" (डॉ० बच्चन सिंह : रीति-कालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, पृ० 437)

भाई संतोखसिंह भी इसी युग के कवि थे और उन्होंने अपने 3 ग्रन्थों—'गरब गंजनी', 'वाल्मीकि रामायण भाषा', और 'गुरु प्रताप सूरज' की रचना राज-दरबार में ही की थी, लेकिन वे एक ऐसे दरबार के कवि थे जिसका वातावरण इन दरबारों से सर्वथा भिन्न-ज्ञानशीलता, गुण-ग्राहकता, भक्ति-भावना एवं सात्विकता से परिपूर्ण था। अपने आश्रयदाता कैथल नरेश भाई उदयसिंह और कैथल नगर का वर्णन भाई संतोखसिंह ने इस प्रकार किया है—

भाग भूर भगतू भगति भरपूर भाव
भारो भय भंजन भगत भगवान को।
तां के शुभ वंश में बतंस उदैसिंह भूप,
जाहर जहान मैं महान कीनि आन को।
सिखी सुख खान को सिखैया सीख ग्यान को,
सुनैया गुण ग्यान को धरैया गुरु ध्यान को।
पकड़े क्रिपान को नसैया शतरू जानको,
रखैया कुलकान को, दिवैया जग दान को।"
(वाल्मीकि रामायण भाषा, लंका काण्ड, सर्ग 131)

कैथल नगर का एक पवित्र तीर्थ स्थान के रूप में उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—

"तीर तीर तीरथ की भीर बड पीर हरि,
नीर भरे सुन्दर सुहावती सुपान की।
संत है महंत भगवंत की भगतिवंत
अंतक के अंत को न पाई परिप्रान की॥

परम पवित्र है वचित्र देवतानि थान
जत्र तत्र चित्र चित्र देति मति स्थान की।
उपमा महान कीन आन मैं समान की,
पुराण मैं प्रमान की सुकैथल स्थान ॥ 159
(वाल्मीकि रामायण भाषा, लंका काण्ड, सर्ग 131)

ऐसे पवित्र नगर के भक्ति एवं वीर-भावना से परिपूर्ण वातावरण में रचित कविता निश्चय ही उपरोक्त राजदरबारों की कविता से भिन्न होगी। कैथल का राज-दरबार एक ऐसा राजदरबार है जो 'गुरु दरबार' की चेतना से प्रभावित है। वह 'गुरु दरबार', जिसकी चेतना को स्पष्ट करते हुए भाई संतोखसिंह ने एक स्थान पर लिखा है—"गुरु दरबार में राजा और रंक का, आम और खास का कोई भेद नहीं था। वहाँ नित्य लंगर चलता था और सब वर्गों के लोग उसमें एक साथ भोजन करते थे वहाँ रबाबी राग गाए जाते थे और हरि-कीर्तन होता था। जितना अन्न आता था वह उसी दिन पका दिया जाता था। अगले दिन के लिए कुछ शेष नहीं बचता था। संग्रह का कोई भाव नहीं था।

भाई संतोखसिंह का सम्पूर्ण काव्य इसी आध्यात्मिक एवं सामाजिक चेतना से ओत-प्रोत है जिसका उस युग के हिन्दी साहित्य में अभाव है।

भाई संतोख सिंह की 5 कृतियाँ उपलब्ध हैं—" 'नामकोप', 'गुरु नानक प्रकाश', 'गरब गंजनी टीका', 'वाल्मीकि रामायण भाषा' और 'गुरु प्रताप सूरज ग्रन्थ'। 'नामकोष' संस्कृत 'अमरकोष' का अनुवाद है। 'गुरु नानक प्रकाश' में गुरु नानक की चरित्र-गाथा वर्णित है, जिसमें लगभग 9,000 छन्द हैं। 'गरब गंजनी' 'जपू जी' की भाष्यपरक शैली में लिखी गई टीका है सिजमें 'जपू जी' के साहित्यिक सौन्दर्य का भी अनुशीलन किया गया है। 'वाल्मीकि रामायण भाषा' 'वाल्मीकि रामायण' का मार्मिक शैली में किया गया ब्रज भाषा पद्यानुवाद है, और 'गुरु प्रताप सूरज' सभी सिख गुरुओं और बन्दा बहादुर के जीवन पर आधारित वृहदाकार महाकाव्य है। इस प्रकार 'नामकोश' को छोड़कर अन्य चारों ग्रन्थ धार्मिक भावना से अनुप्राणित हैं और उनमें आनन्दपुर साहिब गुरु दरबार की काव्य-चेतना परिव्याप्त है।"

भाई सन्तोखसिंह का काव्यगत-विषय वस्तु, अध्यात्म-चिन्तन, सामाजिक-दर्शन, मानवीय-भावना, लोक-मंगल की चेतना, काव्य-सौष्ठव, भाव-व्यंजना, वस्तु-वर्णन, प्रकृति-चित्रण, भाषा-सामर्थ्य, अलंकार-सौन्दर्य, छन्द-विधान आदि सभी दृष्टियों से हिन्दी साहित्य को अनूठी और अद्वितीय देन है। उनके काव्य के इनमें से किसी एक पक्ष को लेकर ही उसके विविध आयामों के सन्दर्भ में, उनकी महत्ता को स्थापित किया जा सकता है, जो कि इस लघु शोध-पत्र में संभव नहीं है। इसलिए उनके काव्य-चिन्तन के एक-दो विशिष्ट पक्षों का ही उद्घाटन यहाँ सम्भव होगा।

'महाभारत' के सम्बन्ध में कहा गया है कि यह पुराण, इतिहास, महाकाव्य अथवा धर्म ग्रन्थ आदि में से कोई एक नहीं, वरन् सब कुछ मिलकर एक 'महाग्रन्थ' है।

इस सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि "जो अन्यत्र है वह सब 'महाभारत' में भी है और जो 'महाभारत' में नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है।"

भाई सन्तोखसिंह द्वारा रचित 'गुरु नानक प्रकाश' तथा 'गुरु प्रताप सूरज' ग्रन्थ के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ ऐसा ही कहा जा सकता है। कवि ने स्वयं इन्हें 'इतिहास-पुराण' की संज्ञा दी है। क्योंकि इन ग्रन्थों में गुरुओं के इतिहास की बड़ी विशदता, सर्वांगीणता और निष्ठा से निरूपण किया गया है और उनके चरित्र को पौराणिक रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। सिख-परम्परा में इस ग्रन्थ को सिख-इतिहास, धर्म और दर्शन का 'विश्वकोष' कहा जाता है। इसके साथ ही इन ग्रन्थों में भारतीय अध्यात्म, धर्म, दर्शन, समाज और संस्कृति का भी विशदता से वर्णन हुआ है। पौराणिक कथाओं और प्रसंगों से यह ग्रन्थ आप्लावित है। भाई सन्तोखसिंह ने अपने युग की लगभग 300 वर्षों की राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति का बहुत ही यथार्थ एवं विशद चित्रण इन ग्रन्थों में किया है। निःसंकोच कहा जा सकता है कि भारत के मध्य-युगीन सांस्कृतिक इतिहास का यदि प्रामाणिक विवरण कहीं मिल सकता है, तो 'दशम ग्रन्थ' के साथ इन ग्रन्थों में ही उपलब्ध है। इसके साथ ही भाई सन्तोखसिंह ने गुरुओं के समय की, और साथ ही अपने युग के समाज की मानसिकता और चुनौतियों का भी बड़ी कुशलता से यथार्थ चित्रण किया है तथा अपने युग को एक नयी दिशा और दृष्टि दी है। इसीलिए उन्हें एक युग-प्रवर्त्तक कवि कहा जा सकता है।

'गुरु-प्रताप-सूरज' ग्रन्थ लगभग 60,000 छन्दों का महाकाव्य है, जो आकार की दृष्टि से इतना विशाल है कि हिन्दी तो क्या विश्व-साहित्य में भी शायद ही उसके आकार का अन्य ग्रन्थ लिखा गया हो। यह एक ऐतिहासिक महाकाव्य है जिसमें गुरुओं के चरित्र के माध्यम से भाई सन्तोखसिंह ने गुरुओं के आध्यात्मिक विचारों, सामाजिक-चिन्तन एवं मानववादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन विद्वतापूर्वक किया है। इन ग्रन्थों में गुरुओं को 'भवभार उतारने', 'तुर्कान को तेज़ निवारने' तथा 'हिन्दू धर्म का प्रतिपालन' करने के लिए अवतरित कहा गया है। 'गुरु प्रताप सूरज' में कहा गया है कि गुरुओं ने—

"तुरक तेज़ द्रिढ़ तरु उखारा। हिन्दू धर्म को राख्यो प्रतिपारा।" यहाँ तुरक-विरोधी स्वर प्रखरता से प्रकट हुआ है। यहाँ 'तुरक' शब्द विदेशी शासकों के अन्याय, अत्याचार और अनाचार का प्रतीक है। किसी धर्म विशेष का नहीं। नृशंस तुरक शासकों, उनके उमरावों, सरदारों और धर्मान्ध तथा असहिष्णु मुल्लाओं के लिए भाई सन्तोखसिंह ने गुरु-प्रताप-सूरज ग्रन्थ में हिंसक पशु, उल्लू, चमगादड़, जम्बुक आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है। इस प्रकार के मनोवेगों की अभिव्यक्ति के औचित्य की परख के लिए उस समय की भारतवर्ष की राजनीतिक स्थिति एवं मानसिकता पर विचार करना होगा, जिसका 'गुरु प्रताप सूरज' में विस्तार से निरूपण हुआ है। भाई सन्तोखसिंह ने गुरुओं को 'हिन्द की चादर', 'हिन्दू धर्म के रक्षक', 'हिन्दू धर्म के आसरा', तथा 'हिन्दू धर्म के प्रतिपालक' कहा है। यथा—

हिन्दू धर्म राखहिं जग माँही। तुमरे करे बिनस है नाहीं।
हिन्दू धरम जग लियो बचाई। सभि सुर गन की कीनि सहाई।

हिन्दू धरम के आसरा, तुरक न तेज बिसाला।
श्री गुरु गोविन्द जी नमो, चरण के पास।
हिन्दू लाज राखी बन चादर॥

इसीलिए भाई सन्तोखसिंह दृढ़तापूर्वक यह घोषणा करते हैं कि हिन्दुओं पर गुरुओं का बहुत बड़ा उपकार है, और जो हिन्दू यह नहीं मानता उससे अधिक अधम और कृतघ्न और कौन हो सकता है। यथा—

जे जग मैं तन हिन्दू अहै सभि पै उपकार बिसाल कर्यो।
मानहि जे न, अघी नहीं को सम जाई निरैपद बीच पर्यो।
× × ×
हिन्दू जनम हुई जौन उपकार न लखि भजे।
अधम क्रितघनी कौन तिस ते परै बिचारिए।

(वाल्मीकि रामायण भाषा सर्ग 1)

भाई सन्तोखसिंह एक समन्वयवादी कवि ये। गुरु ही उनके इष्टदेव थे। गुरु नानक की वन्दना उन्होंने निराकार परब्रह्म के रूप में ही की है—

नमो पादकंजमगुरु ग्यान ग्याता। महां मोह हंता, घनानन्द दाता।
नमो लोक लोकेश्वर लोक कर्ता। सदा सरब थानं सदा सरब भरता।
निराकार साकार एको तूही है। अजा ते परे रूप तेरो सही है।
अलंक्खं अभक्खं, अकत्थं अलेखं। अमोहं, अदोहं, अजोहं, अभेखं।

(गुरु नानक प्रकाश)

लेकिन इसके साथ ही उन्होंने ब्रह्मा, इन्द्र, गणपति, वशिष्ठ, रामचन्द्र, नृसिंह, घनश्याम, वामन, जनक, नारद, शारदा, शेष, महेश, दुर्गा आदि अनेक हिन्दू देवी-देवताओं ऋषियों-मुनियों की महिमा का वर्णन किया है और उनकी वन्दना भी की है। उनके दोनों महाकाव्यों में अनेक अवतार-कथाएँ एवं पौराणिक प्रसंग वर्णित हैं—जो इस बात का साक्षी है कि वैष्णव मत का उन पर पर्याप्त प्रभाव था। इसका एक कारण यह भी था कि उन्होंने हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों कुरुक्षेत्र एवं कपालमोचन के निकट कैथल एवं बूडिया में रहकर काव्य रचना की है। 'अकाल पुरुख' के दिव्य रूप चित्रण में 'विष्णु' का रूप मुखर हो उठा है। देखिए—

कर कमलन महिं शसत्र सुहाए। जिहहि बिलोकति शत्रु पलाए।
चार भुजा सोहति अति चारु। उनत सिकन्ध ब्रिखभ अनुहारू।
पीत वसन जिन पर अति सोहैं। तडिता की छवि को जो मोहैं।
उर पर बनी ललित बनमाला। कम्बु ग्रीव त्रै रेख बिसाला।
चारु चिबुक उपमान विशेखी। सो जानहिं जिन नैनहु देखी।
अति सुन्दर म्रिदु बोल कपोला। मन्द मन्द मुशक्यान अमोला।
कोटि मयंकन सम मुख मण्डल। मकराक्रित सोहति श्रुत कुण्डल।
उतपल दल परफुल्लित लोचन। भगतन केर ताप त्रै मोचन।

भाल विशाल किरीट सुहावा। छत्र चन्द्रमा देखि लजावा।
चौर दुरति चहुं दिश ते चारू। मनहुं भानु कर प्रभा अपारू।
महिमा तिह कहि कौन सकाई। कोटि शेष सारद सकुचाई।
नेति नेति जिह वेद पुकारा। सभि कवि कोविद लहति न पारा।
(गुरु नानक प्रकाश, पूर्वार्द्ध 73/30-36)

'जपु जी' की टीका करते हुए उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि "छः शास्त्रों के तत्व वेदों में ही अन्तर्भूत हैं, मूल वेद ही है।" 'जपु जी' की अनेक तुकों की व्याख्या उन्होंने न्याय, वैशेष्कि, साख्य, योग, मीमांसा एवं वेदान्त के षड्दर्शनों के सन्दर्भ में की है और इन दर्शनों के प्रमुख आचार्यों के मतों का उल्लेख भी किया है।

इसके साथ ही उन्होंने गुरु नानक की ब्रह्मा, विष्णु और महेश से समरूपता भी प्रदर्शित की है। एक स्थान पर उन्होंने गुरु नानक का चित्रण विष्णु के रूप में इस प्रकार किया है—

निज सरूप तबि श्री प्रभु धारा। चरन कोक नद शुभति अपारा।
नूपरि मणिमय रुचिर सुहाए। द्वै जंघा कदली छवि पाए।
छुद्र घंटका बंधि सुहावति। उदर सत्रिवली शोभ बढावति।
कालिन्द्री आवरति सु नाभा। भुजा-चार युत भूखन आभा।
संख चक्र कर कमलन मांही। गदा पदम अति सुन्दर आही।
कंकन अंगइ मणि अधिकारी। ब्रिखभ समान कन्ध द्वै भारी।
अर आयुत बनमाला सुहावा। अधिक कौसूतभ मणि छवि पावा।
कंबु ग्रीव त्रै रेख बिराजित। बदन बिलोकि चन्द्रमा लाजति।
चिबुक जारू, मुसक्यान कपोला। हास म्रिदुल छवि होति अमोला।
चमक दसन की रुचिर बिराजी। सम्पुट बिद्धम हीरन राजी।
उनत नासका, कानन कुण्डल। शोभ सुखद अनि मुख मण्डल।
मनहुं कमल दल सुन्दर लोचन। क्रिपा भरी चितवन दुख मोचन।
धनुख भ्रिकुटी यसकत चारू। सिर करीट जिह प्रभा अपारू।
श्याम बरन जलधर की न्याई। बसन पीत जनु छटा सहाई।
(गुरु नानक प्रकाश, उत्तरार्द्ध, अध्याय 56)

उपर्युक्त दोनों वर्णनों में अद्भुत समानता है। यहाँ उल्लेखनीय है कि भाई सन्तोखसिंह ने गुरु नानक को अकाल पुरख का रूप माना है तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश उनके दर्शनों के लिए आते दिखाए गए हैं।

काग भुशुण्डी के प्रसंग में भाई सन्तोखसिंह ने शैव मत और वैष्णव मत का समन्वय करने का भी प्रयास किया है। शिव उपासक और विष्णु विरोधी एक भक्त की स्वीकृति का निरूपण करते हुए वे कहते हैं कि विष्णु से विरोध करने का परिणाम यह हुआ कि उसे अनेक कष्ट सहने पड़े, और नरक में गिरना पड़ा। दोनों एक ज्योति के ही स्वरूप हैं—

एक जन्म में शुद्ध भा, शिव सेवा मन लाई।
करों विशनु सो द्रोह तब, बिनु भव जान न काइ।
पयो तबहि मैं नरक मझारी, मिली शासना मो को भारी।
मर कै बिरवै परी जन फासा। बिर्‌यो काल कित तबहि निकासा।
(गुरु नानक प्रकाश, पृ० 65/33-44)

इस प्रसंग के अन्त में गुरु जी यही कहते हैं कि शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं है। दोनों ही एक ज्योति के स्वरूप हैं।

इन महि भेद न रंचक जानो।
द्वै स्वरूप इस ज्योति प्दानो।

उस युग में सगुण एवं निर्गुण उपासना को लेकर बड़ा विवाद था। भाई सन्तोख-सिंह ने इन दोनों की अभेदता का निरूपण करके इस विरोध को भी दूर करने का प्रयास किया। 'गुरु नानक प्रकाश' में सिखों को उपदेश देते हुए गुरु जी कहते हैं—

सुनि श्री नानक वैन उचारे। प्रिथक प्रिथक द्वै नहीं बिचारे।
भेद होई ता प्रिथक सेवा। निरगुन लखहु अभेवा।
जो दोनों में भेद पछानै। सो मानव जानहु अनजाने।

भाई सन्तोखसिंह के काव्य में तुरक विरोधी स्वर मुखरित अवश्य हुआ है, लेकिन उनकी यह प्रखरता उनके अत्याचारों और अन्याय के कारण है अन्यथा राम-रहीम, हिन्दू-तुरक में वह कोई भेद नहीं मानते।

उन्होंने स्पष्ट कहा है कि ये सभी एक मिट्टी के बने हैं और इन सब में एक ही ज्योति का नूर समाया हुआ है—जो इनमें अन्तर मानते हैं वे अज्ञानी हैं—

इक माटी इक ते करे, एक जोति सभि मांहि।
इक सो बन्यो बनाउ, तहिं भरभहु उर महि नाहिं।
एकंकार खुदाई जो राम रहीम न दोई।
भूले बधि पाख जो जन्म मरण महिं सोई।
× × ×
हिन्दू तुरक बाद के मांही। बसै शतान शान्ति हहै मांहि।
निज निज मान बचावन हेता। सगरे झबरहिं मूढ अचेता।
खालक एकै खलक बनाई। भला जु बुरा नीच उचताई।
(ना० प्र० अ० 41/64-71)

इस प्रकार भाई सन्तोखसिंह ने हिन्दू-सिख, तुरक सभी को एक ज्योति स्वरूप मानकर मानववादी विचारधारा का प्रवर्तन किया है। इसीलिए उन्होंने जाति-पाति, वर्णाश्रम व्यवस्था का भी विरोध किया है और सामाजिक समानता एवं सामाजिक न्याय पर बल दिया है। भाई सन्तोखसिंह ने अपने काव्य में ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, काम, क्रोध जैसी कुत्सित मनोवृतियों का निषेध करके दशा, प्रेम, त्याग, परोपकार, करुणा, सन्तोष, संयम, सेवा, सत्संगति, सत्कर्म, समता, ममता एवं नाम-स्मरण जैसी सद्‌वृत्तियों के विकास

पर भी बल दिया जो उनकी मानववादी उदात्त मनोवृत्तियों के प्रति आस्था का प्रतीक है।

वस्तुतः भाई सन्तोखसिंह ने गुरुओं की ऐतिहासिक कथा के माध्यम से नवीन राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक चेतना का उद्‌घाटन करते हुए मानववादी एवं मानवतावादी दर्शन का प्रतिपादन किया है जो आज के युग में भी अपनी प्रासंगिकता रखता है। हिन्दी साहित्य को कबीर, गुरु नानक और गोस्वामी तुलसीदास के बाद यह उनकी अद्‌भुत देन है। तुलसी का लोक नायकत्व सूर का वात्सल, कबीर का सामाजिक समता एवं केशव का काव्य-शिल्प सभी कुछ उनमें मिलता है।

भाई सन्तोखसिंह की काव्य-रचना काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से भी उत्कृष्ट एवं उदात्त है। भाई सन्तोखसिंह एक विद्वान कवि था। उन्होंने भारतीय काव्य-परम्परा, काव्यशास्त्र एवं छन्दशास्त्र का गम्भीर अध्ययन किया था। 25 वर्ष की अवस्था में ही 'गुरु नानक प्रकाश' जैसे उत्कृष्ट कोटि के काव्य-ग्रन्थ की रचना करके उन्होंने अपनी काव्य-क्षमता का अच्छा परिचय दिया था, जिसमें उनके पाण्डित्य के दर्शन भी होते हैं और साथ ही काव्य-कला का वैभव भी दर्शनीय है। अपने काव्य में इन्होंने सभी भावों की मार्मिक व्यंजना की है लेकिन रीतिकालीन शृंगारिक परम्परा में उन्होंने कोई सहयोग नहीं दिया। उनके काव्य में अध्यात्म, भक्ति और वीर रस का अद्‌भुत समन्वय हुआ है। 'वाल्मीकि रामायण' और 'महाभारत' में जिस 'सत्य-पराक्रम' की प्रतिष्ठा की गई है, उसी का निरूपण भाई सन्तोखसिंह ने अपनी रचनाओं में किया है। उनके काव्य में गुरु नानक का आध्यात्मिक एवं मानवीय मनोवृत्तियों का अध्ययन गुरु तेग बहादुर की निर्लिप्तता एवं त्याग तथा गुरु गोबिन्दसिंह की सदाधर्म एवं सत्य की रक्षार्थ निर्भीकता एवं शौर्य एक साथ मिलते हैं। इस तरह उनके काव्य भारतीय साहित्य-सम्पदा की अमूल्य निधि हैं और हिन्दी साहित्य को यह उनकी अद्‌भुत देन है। यह एक ऐसा ऋण है जो किसी भी प्रकार चुकाया नहीं जा सकता। समन्वय भावना, मानवतावाद एवं मानववाद उनके काव्य की ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जो उस युग के काव्य में अन्यत्र दुर्लभ हैं।

13

हरियाणा का संत साहित्य उपलब्धियाँ एवं सीमाएँ

हिन्दी का मध्ययुगीन भक्ति-साहित्य सांस्कृतिक पुनरुत्थान, सामाजिक जागरण, उदात्त मनोवृत्ति, श्रेष्ठ नैतिक मूल्यों एवं स्वतन्त्र चिन्तन की आभा से मण्डित ऐसा जीवन्त साहित्य है, जो तत्कालीन राजनीतिक पराजय, ह्रासोन्मुखी सांस्कृतिक प्रवृत्ति, पतनोन्मुखी धार्मिक स्थिति विशृंखलित सामाजिक व्यवस्था, जब दी हुई मनोवृत्ति एवं चिन्तन पारतन्त्र्य की कालिमा को विदीर्ण करके एक प्राणवान चेतना का आलोक-विकीर्ण करता है।

इस युग में भक्ति की दो विशिष्ट धाराएँ प्रवाहित हुईं। एक तो वेद-विहित, श्रुति-सम्मत, शास्त्रीय परम्पराओं का अनुगमन करने वाली, आस्था-विश्वास और श्रद्धा से समन्वित, उच्च आदर्शों एवं मूल्यों की स्थापना करने वाली सगुण भक्ति-धारा है, दूसरी वेदों, श्रुति-स्मृतियों की रूढ़िबद्ध मान्यताओं की उपेक्षा करके, युग की यथार्थ चुनौतियों से जूझती हुई, सामाजिक जीवन की विसंगतियों का साहसपूर्वक सामना करने वाली 'जनवादी' निर्गुण भक्ति-धारा है, जिसका प्रवर्त्तन कबीर, गुरु नानक, रैदास, दादू आदि सन्तों ने किया। इन सन्तों ने अनुभव एवं साधना से अर्जित स्वतन्त्र चिन्तन के बल पर उस युग में प्रचलित धार्मिक मिथ्याचारों, बाह्याडम्बरों एवं सामाजिक विषमताओं का विरोध करके, सहज सात्विक धर्म-भावना, सामाजिक समता, मानवीय एकता एवं मानववादी जीवन दृष्टि से सम्पन्न लोक-चेतना जागृत करने का स्तुत्य कार्य किया।

दीर्घकाल तक ये सन्त-साधक अपनी साधना और विचारधारा से सामान्यत: समस्त भारत को और विशेष रूप से उत्तर भारत को प्रभावित करते रहे। सन्तमत में अनेक सम्प्रदायों अथवा पन्थों की स्थापना हुई। किन्तु, ये सम्प्रदाय प्राय: किसी प्रभावी सन्त (गुरु) के नाम पर ही उनके शिष्यों द्वारा स्थापित किए गए। इन विभिन्न सम्प्रदायों की विचारधारा सामान्यतया एक-सी है, उसमें कोई उल्लेखनीय सैद्धान्तिक अन्तर नहीं है।

भारतीय धर्म-साधना में एक ओर ब्रह्म, जीव, सृष्टि आदि से सम्बन्धित गहन-गम्भीर आध्यात्मिक तत्त्वों पर सूक्ष्म दृष्टि से मनन, चिन्तन हुआ, दूसरी ओर अनासक्त

भाव से लोकजीवन एवं सामाजिक यथार्थ से निर्लिप्त रहकर आत्मिक साधना पर बल दिया गया था फिर अनेक ऐसे बाह्यचारों अथवा आडम्बर-युक्त साधना-पद्धतियों का प्रचलन हुआ, जिससे सामान्य-जन सहज-सात्विक जीवन-पथ से विरक्त होकर जटिल रूढ़ियों एवं अन्धविश्वासों में उलझ गया और आम लोग जीवन की सही पहचान और सार्थकता खो बैठे। मध्ययुगीन सन्तों और भक्तों ने इन विसंगतियों को देखा-परखा और आत्मिक-धार्मिक साधन का मानवीय लोकमंगल एवं सामाजिक जीवन से सम्बन्ध स्थापित करके--सत्य, अहिंसा, सदाचरण, सहिष्णुता, संयम, सेवा, सन्तोष आदि उदात्त जीवन-मूल्यों पर आधारित धर्म के वास्तवित रूप की पहचान दी।

हरियाणा भारतीय संस्कृति का केन्द्रीय स्थल है। यहाँ की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परम्पराएँ अत्यन्त प्राचीन, समृद्ध एवं गौरवपूर्ण हैं। यहाँ वेदों की ऋचाओं का गायन हुआ, उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों, पुराणों, स्मृतियों की रचना हुई। 'महाभारत' महाकाव्य लिखा गया और 'श्रीमद्भगवदगीता' का अमर सन्देश यहीं से प्रसारित हुआ। यहाँ ऋषियों-मुनियों ने 'उपनिषदों और ब्राह्मण ग्रन्थों' पर ज्ञान-गोष्ठियों का आयोजन किया और संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश में उच्चकोटि के काव्य का सृजन हुआ। बौद्धों, जैनों, वैष्णवों, शैवों, शाक्तों, सिद्धों, नाथों, सूफियों आदि ने भी समय-समय पर यहाँ की सांस्कृतिक परम्पराओं को समृद्ध किया।

सातवीं-आठवीं शती से 16वीं शती तक हरियाणा में जो मूर्तियाँ मिली हैं, उससे भी इस बात की पुष्टि होती है। पिंजौर में दसवीं शताब्दी की शिव, हरिहर, अग्नि, उमा-महेश्वर आदि की, जीन्द में विष्णु की, पेहवा में गणेश एवं ब्रह्मा की, बेरी में उमा-महेश्वर, विष्णु, ब्रह्मा, विद्याधर, सूर्य एवं हरिहर की, रोहतक में यक्षिणी की, झज्झर में मत्स्य, कच्छप, गन्धर्व, वराह, नृसिंह, परशुराम, वामन, बुद्ध कल्कि, विष्णु की, कोसली में विष्णु की अस्थलबोहर में पार्श्वनाथ की मूर्तियाँ मिली हैं। इससे ज्ञात होता है कि शैव, वैष्णव, जैन एवं बौद्धमत का यहाँ काफी प्रभाव था। विविध सम्प्रदायों के सन्तों ने अपनी अमृतवाणी से हरियाणा की भूमि का सिंचन किया और लोगों को धर्म-परायणता एवं नैतिकता से जीवन जीने की प्रेरणा दी।

कृष्ण की लीला भूमि ब्रज हरियाणा से सटी हुई है और कृष्णभक्ति धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि सूरदास हरियाणा के ही एक गाँव सीही में जन्मे थे। सूफियों की भी इस प्रदेश में दीर्घकालीन परम्परा विद्यमान है। इसी प्रकार सन्तों के भी यहाँ अनेक सम्प्रदायों अथवा पन्थों का प्रचलन हुआ, जिनमें अनेक सन्तों ने साहित्य-सृजन भी किया। डा० सूरजभान ने अपने शोधप्रबन्ध 'हरियाणा का सन्त-साहित्य' में गरीबदासी, दादूपन्थी, कबीरपन्थी, नितानन्दी, परमानन्द, घीसापन्थी, चरणदासी, साध-सम्प्रदाय, बेनामी, समतापन्थी, उदासी, निर्मले, बिशनोई, सच्चा सौदा, नाँगी सम्प्रदाय, राधा-स्वामी आदि से सम्बन्धित अनेक सन्तों एवं उनकी कृतियों का उल्लेख किया है। इन सन्तों ने रोहतक, हिसार, जीन्द, सिरसा, नारनौल, रिवाड़ी, अम्बाला, कुरुक्षेत्र आदि क्षेत्रों में अपने सम्प्रदायों की स्थापना की और धर्मप्रचार किया। सामान्यत: हरियाणा में इन सन्तों का प्रचार-प्रसार 18वीं शताब्दी व 19वीं शताब्दी में ही हुआ और इनमें अधिकांश ने

पूर्ववर्ती प्रतिष्ठित सन्तों कबीर, दादू, परमानन्द, घीसा, चरणदास आदि की परम्परा को ही आगे बढ़ाया। हरियाणा के सन्तों में गरीबदास, निश्चलदास, भाई सन्तोखसिंह, नितानन्द जैतराम आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनका सांस्कृतिक एवं साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण योगदान है।

हरियाणा के सन्तों में गरीबदास का महत्वपूर्ण स्थान है। इन्हीं के नाम से 'गरीबदास पंथ' की भी स्थापना हुई। ये छुटानी गाँव के निवासी थे। रोहतक की झज्झर तहसील में इनका जन्म संवत् 1774 में हुआ था। इनकी मृत्यु 1835 में मानी जाती है। किसानगृह में उनका जन्म हुआ था और वे आजीवन गृहस्थी रहे। वे कबीर को अपना प्रेरक गुरु मानते थे। ('दास गरीब कबीर का चेरा')

ऐसी मान्यता है कि इन्होंने 24000 छन्दों की रचना की थी, किन्तु इनमें से 7000 छन्द ही उपलब्ध हैं। इनकी वाणी का संग्रह 'गरीबदास की वाणी' वैंलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है।

गरीबदास जी की वाणी में विषय की व्यापकता एवं विविधता है। ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष, आवागमन, गुरु, हरि-भक्ति, सत्य, नाम-स्मरण, सत्संगति-कुसंगति, साधु, असाधु, दया, निर्दयता, परोपकार, लोभ, विषय-वासनाओं के त्याग आदि पर इन्होंने अपने विचार प्रकट किये हैं। इनके राम अगम, अलख, अविकल, अगोचर हैं तथापि इन्होंने उसके सगुण रूप को भी महत्व दिया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उससे भिन्न नहीं है। वह ईश्वर हमारे शरीर में विद्यमान है। वे सद्गुण में ही ईश्वरीय सत्ता स्वीकार करते हैं। आध्यात्मिकता के साथ-साथ इन्होंने लौकिक एवं व्यावहारिक जीवन को उन्नत, स्वच्छ एवं उदात्त बनाने पर विशेष बल दिया। मायाग्रस्त जीव का उद्धार कैसे हो ? यही उनकी मुख्य चिन्ता है। 'मनुष्य-शरीर को लोकहित में ही उपयोग होना चाहिए'— यही उनकी मान्यता थी। इसलिए उन्होंने कहा है कि "मरने पर भी शरीर को जलाना नहीं चाहिए, बल्कि उसे किसी वन में डाल देना चाहिए, जिससे पक्षी उसका माँस खा सके"।[1]

इनकी साधना-पद्धति में वैष्णवमत एवं योगमत का भी समुचित संयोग है। इन्होंने सुरति-साधना पर भी बल दिया है। संसार को स्वप्नवत् समझकर सहज-सात्विक जीवन जीते हुए, नित्य हरिनाम में चित्त लगाए रखना ही उनके जीवन का आदर्श है। सामाजिक दृष्टि से वे एक पत्नीव्रत धर्म को महत्व देते हैं तथा छल, कपट, मांस भक्षण आदि की निन्दा करते हैं।

इनकी वाणी सहज एवं व्यावहारिक भाषा में रचित है। सामान्यत: वह खड़ी-बोली के निकट हैं और उसमें बांगरू, राजस्थानी, ब्रज, फारसी, पंजाबी आदि के शब्दों का उपयोग किया गया है। लोक-जीवन से सम्बन्धित मुहावरों का भी प्रचुर प्रयोग हुआ है। उपमा, रूपक, दृष्टान्त, उदाहरण, अनुप्रास आदि अंलकारों का सार्थक प्रयोग हुआ

---

1. दृष्टव्य : डॉ० सूरजभान—हरियाणा का सन्त साहित्य (हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़)

है। दोहा, कवित्त, सवैया, अरिल्ल, रमेनी, बैंत, झूलना, सोरठा, आरती के अतिरिक्त इन्होंने पदों की रचना भी की है, जिनमें संगीत तत्त्व प्रचुरता से विद्यमान है।

गरीबदास के पुत्र एवं शिष्य जैतराम (1794 वि०) की वाणी 'ग्रन्थ साहब—सद्गुरु श्री जैतराम जी महाराज' के रूप में प्रकाशित हैं, जिसमें 6400 छन्द हैं। सामान्यतः, निर्गुण पंथी होते हुए भी इन्होंने दशरथ पुत्र, पतित पावन, अवतारी राम में दृढ़ आस्था प्रकट की है। यथा—

1. पतित उधारन आइया रामचन्द्र औतार—
2. चित्रकूट में जाए कर, ठहरे दोनों वीर।
   सीता पत्नी साथ है, रामचन्द्र रघुबीर॥

इन्होंने अपनी वाणी में हरियाणवी मिश्रित खड़ी बोली का ही प्रयोग किया है।

रोहतक, नारनौल सतनाम साध-सम्प्रदाय के केन्द्र रहे हैं। इस सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त वीरभान का नारनौल क्षेत्र में विशेष प्रभाव रहा है। इनकी वाणी इस ग्रंथ के धर्मग्रन्थ 'पोथी' में संकलित है। ये कृषि एवं व्यापार आदि से अपना जीवन निर्वाह करते थे और जाति-पाति के विरोधी थे।

हरियाणा के सन्तों में नितानन्द का भी विशेष स्थान है। रोहतक के निकट माजरा, दुबलधन इनका साधना केन्द्र था। इनकी वाणी 'सत्य सिद्धान्त प्रकाश' में संचित है। इन्होंने ब्रह्म, जीव, जगत् आदि सम्बन्धी विचारों का प्रतिपादन विस्तार से किया है। इनके अनुसार "ब्रह्म निरंजन सब देवों के देव हैं। सुर-नर, देवी-देवता सभी उसका रहस्य जानने में असमर्थ हैं। वह अदृश्य है, पर सबका आधार है। वह मन-बुद्धि की पहुंच से बाहर है। वह सबमें निवास करता है और सब उसमें निवास करते हैं।"[1]

परमानन्दी पंच के सन्त सुधानन्द आदि की वाणी में योग-साधना सम्बन्धी गगन मंडल, सुरति-शब्द, सहस्त्रकमल, शुभमंगल, अमृत बूँदे, महाशुभ चक्र, भंवर, गुफा में बंशी वजने आदि का भी वर्णन हुआ है।

चरणदासी पंथ में सन्त रामरूप का विशेष स्थान है। इनका जन्म तो दिल्ली के निकट जैंसिहपुरा में हुआ था, किन्तु ये काफी समय बेरी (रोहतक) में रहे और वहीं इनका सं० 1847 में देहावसान हुआ। इनके द्वारा रचित 'मुक्तिमार्ग', 'गुरुभक्ति प्रशंसा' में हरिस्मरण, गुरु महिमा, सन्त महिमा, भक्ति, वैराग्य, पतिव्रता प्रभु प्रेम, विरह आदि का ब्रजमिश्रित खड़ी बोली में, दोहा-चौपाई छन्द में वर्णन किया गया है।

दादूपन्थ के सन्तों में हरिदास तथा निश्चलदास का विशेष महत्व है। हरिदास ने लगभग 600 साखियाँ लिखी हैं, जिनमें प्रभु-प्रेम, हरिस्मरण, गुरु, सत्संगति, कुसंगति, गुणहीन व्यक्ति, अज्ञानी शिष्य आदि पर भी चर्चा की गयी है। इनकी वाणी में अनुभूति की तीव्रता एवं अनुभव की प्रामाणिकता लक्षित होती है।

दादूपंथी सन्तों में निश्चलदास का प्रमुख स्थान है। वस्तुतः, दार्शनिक तत्त्व-

1. डॉ० सूरजभान, हरियाणा का सन्त साहित्य (हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़)

चिन्तन की दृष्टि से वे हरियाणा के मूर्धन्य विद्वान सन्त हैं ! इनका जन्म सं० 1760 में कूंगड़ ग्राम में जाट परिवार में हुआ था। काशी में जाकर स्वयं को ब्राह्मण घोषित करके इन्होंने संस्कृत भाषा, व्याकरण एवं दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया। इनके तीन ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'विचार-सागर', 'वृत्ति प्रभाकर' एवं 'मुक्ति-प्रकाश'। 'विचार-सागर' दर्शन, वैराग्य एवं धर्मसाधना सम्बन्धी उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। स्वामी विवेकानन्द ने भारत में तीन सौ वर्षों में लिये गये किसी भी भाषा के ग्रन्थों में इसे सर्वाधिक प्रभावशाली बताया है। इस ग्रन्थ में ब्रह्म, जीव, जगत्, माया के स्वरूप, गुरु शिष्य लक्षण, शुभ भक्तिफल, वेदादि साधन, मिथ्या वर्णन, जीवन-मुक्ति, विदेह-मुक्ति आदि का प्रतिपादन वेदान्त, सांख्य, न्यायअद्वैत दर्शन आदि के आधार पर विवेकपूर्ण एवं सरल शैली में किया गया है। अतः इस ग्रंथ में विचार-तत्त्व की प्रधानता है और काव्यत्व कम है। तथापि वैराग्य आदि के वर्णन में मार्मिकता भी लक्षित होती है। ऐसे स्थलों पर सहज भाषा में विचारों का निरूपण किया गया है और उपमाओं, रूपकों, दृष्टान्तों एवं उदाहरणों से उन्हें स्पष्ट एवं प्रभावशाली बनाया गया है। एक उदाहरण देखिए—

"कामिनी ह्वै जु सुरूप सुबानी। सो करूप ते ह्वै दुखदायी।
चमक चान की पियहिं पियारी। अर्थ धर्म नशि मोक्ष बगारी।
मीठे बैन जहर भुत लड़वा। खाय गमाय बुद्धि ह्वै भड़वा।
और कछु सपनेहु नहिं देखे। काक अंध इम कामिनी लेखैं।
जैसे मोर मोरनी आये। नाथि रिझाय आप अनुरागे।
वैसे विविध वेष करि तियको। मन रिझाय रीझय मन पिय को
जब दुहून को मन अनुराग्यो। तबहिं मदन मदिरा मद जाग्यो।
भये कंवर बसनहु त्यागे। अति उन्मत घूरत मुसि लागे।
प्रबल काम मदिरा मद जागै। तब द्विज तिय धान कते लागे।
पिय मदन मदिरा नर नारी। ऐसे करत अनन्त खुवारी।
काम दोष यों नरहिं बिगोवत। सोइ प्रगट सुन्दरि तिय जोवत।
याते अति सरूप तिय दुखदा। ताको त्याग कहत मुनि सुखदा।

इस प्रकार निश्चलदास जी ने स्त्री, पुत्र, धन-वैभव आदि की व्यर्थता का समक्षता से प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि इस विषय वासनाओं से वास्तविक आनन्द प्राप्त नहीं होता। अनुभव और युक्तियों के आधार पर इनकी निरर्थकता का प्रतिपादन करके इन्होंने तत्त्व-चिन्तन द्वारा वास्तविक आनन्द की उपलब्धियों का मार्ग निर्दिष्ट किया है।

निश्चलदास जी ने संस्कृत भाषा में उपलब्ध अध्यात्म-तत्त्व को हिन्दी भाषा के सरल शैली में प्रस्तुत करके सर्वग्राह्य बनाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और सभी वर्णों एवं वर्गों को इस ज्ञान की उपलब्धि का अधिकारी बनाया है। उनके अध्यात्म-चिन्तन के सम्बन्ध में डॉ० रणजीतसिंह का कथन है कि—"निश्चलदास जी ने जीव-ब्रह्म में अभेदत्व

माना है तथा जगत और ब्रह्म में तादात्म्य सम्बन्ध कहा है। जगत् को उन्होंने भी मिथ्या कहा है। उनके अनुसार संसार दुख बाध ब्रह्म ज्ञान के अनन्तर ही होता है। ब्रह्म के अज्ञान से जन्म-मरण और संसार आदि दुःख उत्पन्न होते हैं। उनका वाध ब्रह्म-ज्ञान होता है।" —वस्तुतः निश्चलदास जी ने अद्वैत वेदान्त का तलस्पर्शी अनुशीलन करके सारग्राही और समन्वयवादी दृष्टि भारतीय दर्शन को दी है तथा वेदान्त सम्बन्धी विचारों को सम्प्रदाय से ऊपर उठकर एक नयी दिशा प्रदान की है।[1]

महाकवि भाई सन्तोखसिंह का हरियाणा के कवियों में सर्वोच्च स्थान है। यद्यपि वे राज्याश्रित कवि थे, किन्तु सन्तमत के सभी तत्त्व उनके काव्य में उपलब्ध हैं। भाई सन्तोखसिंह का जन्म बूढ़िया में संवत् 1845 में हुआ था और संवत् 1900 में कैथल में इनका निधन हुआ था। 'नाम कोश', 'गुरु नानक प्रकाश', 'गरब गंजनी टीका', 'वाल्मीकि रामायण भाषा' तथा 'गुरु प्रताप सूरज' उनकी प्रामाणिक रचनाएँ हैं। 'गुरु नानक प्रकाश' 9700 तथा 'गुरु प्रताप सूरज' 51000 छन्दों के वृहदाकार महाकाव्य हैं। जिनमें क्रमशः 'गुरु नानक' तथा अन्य सिख गुरुओं के जीवन, व्यक्तित्व तथा उनके धार्मिक तथा सामाजिक विचारों का विशदता से निरूपण किया गया है। आध्यात्मिक विचारों तथा साधन-पद्धति की दृष्टि से भाई सन्तोखसिंह गुरुमत का अनुकरण करने वाले निर्गुणवादी कवि हैं। पौराणिकता का भी उन पर प्रचुर प्रभाव है और उन्होंने सिखमत तथा वैष्णव मत का समन्वय करने का प्रयास किया है। महाकवि भाई सन्तोखसिंह एक बहुश्रुत विद्वान कवि थे और उनके इन ग्रन्थों को मध्ययुगीन भारतीय धर्म, दर्शन, इतिहास एवं समाज का 'विश्वकोष' कहा जा सकता है। उनके काव्य सांस्कृतिक-चेतना, राष्ट्रीयता, सामाजिक आदर्श एवं मानवीय उदात्तता से अनुप्राणित श्रेष्ठ काव्य-कृतियाँ हैं, जिनमें भावों की भी मार्मिक व्यंजना हुई है। भाव-बोध, दिषय-वस्तु, आध्यात्मिक तत्त्व, काव्य-प्रवृत्तियों, काव्य-शिल्प, भाषा-शैली एवं छन्द-विधान की दृष्टि से इन रचनाओं की एक निजी विशिष्टता है। ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, कर्म, भक्ति, योग आदि का विस्तार से विवेचन करके इन्होंने सत्संगति, सेवा, हरिस्मरण, दया, परोपकार आदि का महत्व प्रतिपादित किया है तथा अंधविश्वासों, रूढ़ियों, मिथ्याचारों, वर्ग वर्ण भेद, धार्मिक संकीर्णता, असत्-अज्ञान, पाखण्ड-अनीति, अन्याय और अत्याचार आदि का विरोध किया है। विनय से अनुप्राणित उनका एक उदाहरण दृष्टव्य है—

तो सो नहीं दाता कोऊ मोसो न भिखारी दीन।
तो सो न दयाल दुखी मो सो न अलाईए।
मो सो नहीं क्रितघन तो सो उपकारी नाहिं।
मो सो न अनाथ नाथ तो सो न बताइये।

---

1. दृष्टव्य—सन्त निश्चलदास : व्यक्तित्व और कृतित्व, (सं० डा० रणजीतसिंह) पृ० 89-99

ओगुण न मो सो कोउ गुनवान तो सो नाहिं।
जप तप ब्रत मों में एक नहीं पाइये।
कवि आयो है शरन गहे छाई के चरह।
गुरु तारन तरन निज हाथ दे बचाइए।

भाई सन्तोखसिंह गुरुमतांवलम्बी थे, लेकिन उनका सम्बन्ध निमर्ले पंथ से भी माना जाता है क्योंकि उनके काव्य में वैष्णव मत का भी पर्याप्त प्रभाव दिखायी पड़ता है।

निमर्ले पंथ के कवि गुलाबसिंह का उल्लेख करना भी उचित होगा, जिनका जन्म तो पंजाब में हुआ था, किन्तु उन्होंने कुरुक्षेत्र में रहकर प्रौढ़ एवं प्रांजल भाषा में काव्य-रचना की। इनकी 6 रचनाएँ उपलब्ध हैं, जिनमें 'भाव रसामृत', 'मोख पंथ प्रकाश', 'राम-गीता' आदि प्रमुख हैं।

पूर्ववर्ती निर्गुण-सन्त कवियों की भाँति हरियाणा के सन्त-कवियों ने भी ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, ज्ञान, भक्ति, कर्म, योग, वैराग्य आदि को अपने काव्य का मुख्य विषय बनाया है। गरीबदास, नितानन्द, जैतराम, जीतादास, निश्चलदास, सन्तोखसिंह आदि सन्तों ने ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण बड़े विस्तार से किया है। सामान्यतः इनके अनुसार वह परब्रह्म—पूर्ण है, सभी जीवों का जीवन, सब घट अन्तर्यामी, अलख, जगदीश, जल-थल में व्याप्त, रूप, रंग, रेखा विहीन, अचल, अनन्त है। वह सभी में है और सभी उसमें निवास करते हैं। गरीबदास के अनुसार वह निर्गुण सगुण दोनों से न्यारा है। वह शब्द स्वरूपी घट-घट में व्याप्त है, गुप्त भी है, प्रकट भी है, अगम अथाह है, सारी सृष्टि उसी में विराजमान है, न वह पुरुष है न नारी, न हिन्दू है न तुर्क। वह धूप छाया रहित है। वह काल, जाल, योनि, भय, यंत्रणा से रहित है। वह देवी दुर्गा, भैरो, भूत भवानी, शेष महेश, कच्छ-मच्छ, धरती-पाताल, बिन्दु, पवन, कर्म, धर्म, पाप-पुण्य कुछ भी नहीं है। वह न खाता है, न पीता है। वह अभय तत्व है। वह पुष्प गन्ध जैसा सूक्ष्म तत्व है।

नितानन्द के अनुसार भी वह सभी देवों का देव चैतन्य ज्योति स्वरूप, सभी जीवों का प्राण है, अलख, अडिग, अडोल, मन बुद्धि से परे है, सदा एक रस है। सिन्धु में नीर-तरंग की भाँति जड़-चेतन का प्रेरक है। ब्रह्माण्ड में व्याप्त, किन्तु अलिप्त। सारी सृष्टि का कर्त्ता है। ब्रह्म, शिव, शेष सभी ध्यान करते हैं। जीतादास ने भी उसे कैवल-रूप एवं प्रकाशवान कहा है। समतापंथियों ने भी उसे पूर्ण परमेश्वर, अखण्ड, अवगत, अपार, अकाल, अलेख, अनादि, सर्वातीत, निरंकार ओत, अनन्त शक्ति सम्पन्न एवं लीलामय कहा है। वह सभी का दाता तथा रक्षक है।[1] भाई सन्तोखसिंह ने भी ब्रह्म को

---

1. दृष्टव्य—डॉ० सूरजभान—हरियाणा का सन्त साहित्य

निर्गुण, निराकार, अलख, अरूप, अगोचर, अभेद कहा है।[1] सन्त निश्चलदास ने ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया है--

अन्तर बाहिर एक रस, जो चेतन भरपूर
विभु नभ सम सों ब्रह्म है नहिं नेरे नहिं दूर।

सत ओ असत ते विलक्षण स्वरूप तो रो।

साथ ही इन सन्तों में से अनेक की मान्यता है कि वह ब्रह्म ही भक्तों के उद्धार के लिए सगुण रूप धारण करके अवतरित होता है। जीताराम के अनुसार वह कमल नाभि में निवास करने वाला आदि स्वामी है, इसीलिए इन्होंने उसे गोपाल, राम, ठाकुर, पतित-पावन एवं सर्वशक्तिमान कहा है। इसलिए हरिदास तथा जैतराम ने उस प्रभु के साथ प्रणय सम्बन्ध स्थापित करते हुए भी स्पष्ट किया है कि वह सर्वत्र व्याप्त है, नित्य हमारे निकट है। यथा—

प्रीतम को पतियाँ लिखो, जो प्रीतम ह्वै दूर।
नजर न आवै हरिदास, सकल रह्यो भरपूर॥ (हरिदास)

निकट से निकट रहता हूँ, नैना बीच रहता हूँ।
नैना के निरंजन पास, उलटी उलट निरख आकाश॥ (जैतराम)

जीव के सम्बन्ध में भी इनके विचार पूर्ववर्ती सन्तों के ही अनुरूप हैं। नितानन्द के अनुसार जीव अविनाशी ब्रह्म का अंश है। गरीबदास के अनुसार—जीव एवं ब्रह्म का एक ही ज्योतिर्मय रूप है। कर्म के आवरण से द्वैत उत्पन्न कर दिया गया है। समता पंथियों की मान्यता है कि "आत्मा तत्व अजर, अमर, अविनाशी, निर्वैर, निःकर्म एवं निर्दोष है।" आत्मा सदा अजन्मा है, बनना बिगड़ना, राग-द्वेष, कर्मजाल, काम-क्रोधादि देह के विकार हैं, आत्मा के नहीं। भाई सन्तोखसिंह के अनुसार आत्मा सद्-चित् आनन्द स्वरूप है। वह अमर है, अलिप्त है। नितानन्द भी यही मानते हैं कि कुमति के फेर में पड़कर जीव जो हंस समान था काग बन गया है और अपने मानसरोवर को भूल गया है। इसीलिए वे जीव को क्षण भंगुर, असत्य एवं निःसार संसार के प्रपंच से बचने के सन्देश देते हैं।[2]

आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को भाई सन्तोखसिंह ने वेदान्तियों के अनुसार कवच-कुण्डल, बूंद-सागर, अग्निपुंज-स्फुलिंग, जल-लहर आदि के रूप में व्यक्त किया है। उनके अनुसार जीव अहंकार को नष्ट करके, ब्रह्मज्ञान के अभ्यास से तथा भक्ति द्वारा

---

1. विस्तार के लिए दृष्टव्य—लेखक गुरुप्रताप सूरज के काव्यपक्ष का अध्ययन
2. दृष्टव्य—वही

ब्रह्म के साथ एकरूप हो जाता है और अद्वैतता को प्राप्त करता है। सन्त निश्चलदास ने जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्ध का निरूपण इस प्रकार किया है—

जीव ईस भेदहीन चेतन स्वरूप माहिं।
माया सो अनारि एक शांत ताहि आनिये। (निश्चलदास)

सृष्टि-रचना के सम्बन्ध में नितानन्द का कथन है कि सर्वप्रथम ब्रह्म का प्रकाश प्रकट हुआ, उससे माया का विस्तार तथा सत, रज, तम् की उत्पत्ति हुई। पृथ्वी, स्वर्ग-पाताल, सूर्य-चन्द्रमा अर्थात समस्त दृश्यमान जगत की रचना हुई। यह उसी बाजीगर की बाजी है। वह पल भर में उसे समेट भी लेता है। जगत् क्षणभंगुर एवं स्वप्नवत् है। गरीब पंथियों की मान्यता है कि जगत् स्वप्न समान है, सेमल का फूल अथवा धुएँ का बादल है। सन्त निश्चयदास के अनुसार—

"स्वप्न समान झूठ जग जानहु। लेश सत्यता कू मति मानहु।
लाख हजारन कल्प को, यह उपज्यो संसार।
पाते ज्ञानी मुक्ति है, बन्धे अज्ञ हजार। (निश्चलदास)

भाई सन्तोखसिंह की मान्यता है कि ब्रह्म के हुक्म से माया उत्पन्न होती है, जो जगत को भ्रम में डाले रखती है। बाजीगर के तमाशे की भाँति जो नानत्व प्रतीत होता है, वह माया के कारण ही दिखाई देता है। उनके अनुसार भी जगत स्वप्न समान, जड़, अनित्य, नाशवान, परिवर्तनशील, अस्थिर एवं अवास्तविक है। उसके सम्बन्ध जल-प्रवाह के समान अस्थिर हैं। समता-पंथ में भी जगत् को क्षणभंगुर, बादल की छाया, अस्थिर, चंचल एवं अस्थायी कहा गया है। यह अग्नि समान है, जो जीवन को पल-पल जलाता है। यह काल रूपी किसान की खेती है, वह जब चाहे इसे नष्ट कर देता है। यह माया का झूठा जाल है, दाहक है, तृष्णा की अग्नि से जलता रहता है।[1] सच्चा धर्म कमाने वाला ही इससे पार हो सकता है।

माया के सम्बन्ध में भाई संतोखसिंह की मान्यता है कि यह ब्रह्म द्वारा उत्पन्न है तथा उसके हुकम द्वारा ही समस्त जगत् को चलाती है। माया नटनी ने छल-बल से सारे संसार को भ्रम में डाला हुआ है। जगत भी जो आसमान है, वह उसी के कारण है। यह अनेक रूपात्मक, अनिर्वचनीय अनन्त शक्तिवान है। यह त्रिगुणात्मक है। भक्ति, सत्संगति गुरुकृपा द्वारा ही इस मोहमयी से बचा जा सकता है। गरीबदासी पंथियों के अनुसार यह मोहिनी है, चराचर सभी उसका ग्रास हैं, उसका विषैला जाल तीनों लोकों में व्याप्त है। संतों की शरण में जाने से ही इससे बचा जा सकता है समता पंथी भी स्वीकार करते हैं कि सूर्य-चन्द्र, चराचर, सभी प्राणी, देव-दानव, पीर, सिद्ध, राजा-पण्डित, स्थावर-जंगम, सारा दृश्यमान जगत् उस मोहिनी त्रिगुणी माया के जाल में फँसा हुआ है।

---

1. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—लेखक गुरु प्रताप सूरज के काव्यपक्ष का अध्ययन

वस्तुतः अन्य संतों की भाँति हरियाणा के संतों के अनुसार भी माया सहस्रधार नरक में ले जाने वाली, आदमखोर, रांड, मनुष्य घातनी, ठगनी, कुसंग, चंचल, चोरटी, कलंकिनी एवं पापनी है। निश्चलदास आदि कुछ संतों ने माया के शास्त्रीय रूप की मीमांसा भी विस्तार से की है।

नितानन्द जैसे कुछ संतों ने मोक्ष का भी निरूपण किया है। उनके अनुसार जीव और पीव का मिलन ही मोक्ष है। दोनों के मिलन से जीव-पीव और पीव जीव हो जाता है। इन्होंने झिलमिलाते नर युक्त मोक्ष धाम का भी वर्णन किया है। जिन गुरुओं एवं कबीर आदि की भाँति जीवन-मृत्तक जीव का भी उल्लेख नितानन्द ने किया है। सांसारिकता से उदासीन रहकर जो जीव अपने प्रभु से जुड़े रहते हैं, तो प्रभु भी उनके साथ रहते हैं।

उत्तर मध्यकालीन निर्गुण सन्त कवियों के सम्बन्ध में विद्वानों की धारणा यही रही है कि ब्रह्म, जीव, जगत, माया आदि के सम्बन्ध में इनके विचार सामान्यतः कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि सन्तों के विचारों का पिष्टपेषण मात्र है। इनमें न कोई मौलिकता है, न ताज़गी। उनकी अभिव्यक्ति भी साधारण अभिधामूलक एवं निष्प्रभ सी है। हरियाणा के अधिकतर सन्त-कवियों के सम्बन्ध में भी यह धारणा ही है, लेकिन इन सन्तों में गरीबदास, नितानन्द सन्तोखसिंह जैसे संवेदनशील कवि भी हैं, जिनके आध्यात्मिक विचार पूर्ववर्ती सन्तों के अनुरूप अवश्य हैं, किन्तु उनके काव्य में यथेष्ठ अनुभूत्यात्मक सरसता, प्रेषणीयता एवं प्रभविष्णुता है। उनकी वाणी में ऐसी ताज़गी है कि ऐसा नहीं लगता कि वे किसी की नकल कर रहे हों और बिना किसी निजी अनुभूति या चिंतन के सिद्धान्त निरूपण मात्र कर रहे हों। उनकी निरूपण शैली में दुरूहता, जटिलता, नीरसता नहीं है। इसके अतिरिक्त इन सन्तों में निश्चलदास एवं सन्तोखसिंह जैसे विद्वान भी हैं, जिन्होंने विविध दार्शनिक मतों एवं भक्ति, योग, कर्म आदि विभिन्न साधना-पद्धत्तियों की बहुत ही सूक्ष्म एवं गम्भीर मीमांसा की है।

सभी अन्य सन्तों की भक्ति हरियाणा के सन्त-कवियों ने भी गुरु-महिमा, हरि-भक्ति, नाम-स्मरण, साधु-असाधु, प्रभु-प्रेम, प्रभु प्रेम की पीड़ा भक्त की, पतिव्रता से समक्षता, सत्य, असत्य, सत्संगति, विषय-वासनाओं, अहंकार, लोभ, हिंसा, तृष्णा, कुसंग आदि के त्याग, सन्तोष, सदाचार, दया, क्षमा, परोपकार, विनय, कथनी-करनी की एकता बाहर और भीतर की शुद्धता आदि कुछ अन्य विषय हैं, जिन पर इन सन्तों ने विस्तार से प्रकाश डाला है।

वस्तुतः इन सभी सन्तों ने आध्यात्मिक तत्वों पर चिन्तन की अपेक्षा साधना पक्ष पर अधिक बल दिया है और लोक-संग्रह अथवा लोकमंगल की भावना भी उनकी साधना का अपरिहार्य अंग है। इसलिए हरि-भक्ति, नाम-स्मरण एवं प्रभु-प्रेम के साथ-साथ वे व्यक्ति के शील, सन्तोष, सदाचार, संयम आदि के ग्रहण एवं अहंकार, तृष्णा, निन्दा आदि के त्याग और सत्संगति एवं सन्त-सेवा करने को विशेष महत्व देते हैं। असत्य का त्यागकर सत्य का पालन करना इनकी साधना का अभिन्न अंग है, इसीलिए नितानन्द ने कहा है कि सत्य की नाव पर चढ़कर ही भवसागर को पार किया जा सकता है।

नितानन्द घर दूर है, चढ़ो सत्य की नाव।
झूठा कोई ना तिरे, भवसागर दरियाव।

गुरु के महत्व को इन सभी सन्तों ने स्वीकार किया है। नितानन्द के अनुसार गुरु गोबिन्द से भी बड़ा है क्योंकि गोबिन्द ने तो जीव को जन्म-मरण की प्रक्रिया में बाँधा हुआ है, लेकिन गुरु उसे आवागमन से मुक्त कर देता है—

नितानन्द गोबिन्द से सतिगुरु है अधिकार।
गोबिन्द बाध्या जीवड़ा गुरु छुड़ावन हार।

दादूपंथी हरिदास का कथन है कि गोबिन्द गुप्त होकर ऐसा बैठा है, जैसे कुँए में नीर। गुरु वह डोरी है, जिसके बिना गोबिन्द रूपी जल को पाया नहीं जा सकता। यथा—

गोबिन्द बैठा मौण हुए, ज्यों कुएँ में नीर।
गुरु डोरी बिन हरिदास, जल पिवै नहीं धीर।

गरीबदास एवं नितानन्द आदि के अनुसार भी गुरु जीव को भव-बन्धन से मुक्त करने वाला, दुःख कष्टों का नाश करने वाला है। उसके दर्शनों से कीट भृंग बन जाता है। चेतराम का कथन है कि तन-मन और धन का अभिमान गुरु के बिना अन्य कौन नष्ट कर सकता है। कबीरपंथी हरदेदास भी सतगुरु और साहब को एक रूप मानते हैं। भाई सन्तोखसिंह ने भी 'परब्रह्म गुरु रूप पछाना' कहकर गुरु के महत्व को स्वीकार किया है। उनके अनुसार गुरु-कृपा से जीव की अविद्या नष्ट हो जाती है, हउमै का नाश होता है, हरिभक्ति प्राप्त होती है और तप, योग आदि सफल होते हैं। गुरु-सेवा से सर्वोच्च पद प्राप्त होता है। गुरु के बिना जीवन सर्वथा निरर्थक है। राधास्वामी पन्थ के सन्त कवि अरमान का मत है कि सतगुरु परम पुरुष का अवतार है, वह काग को हंस बना देता है। वह भवसागर का उद्धारक, जीव का पीव से मिलान करने वाला मोक्षदाता है। समता पंथियों के अनुसार जो नित्य सत्य स्वरूप में लीन रहता है, नित्य सत्य की चर्चा करता है, जो इन्द्रिय भोगों से अतीत रहता है—सभी जीवों से प्रेम करता है, पर दुःख हरता है, मजहबों से दूर है, सदा अनहद से रमा रहता है—जिसके उपदेश से सिरजनहार मिलता है—ज्ञान-ध्यान जिसकी ढाल है, समता की तलवार से जो काम, क्रोध, अहंकार आदि शत्रुओं का संहार करता है, जो आठों धाम सचेत रहकर अखण्ड निरवानी ज्योति के दर्शन करता रहता है वह सदगुरु है।[1] ऐसा सदगुरु ही जीव का आध्यात्मिक साधना में समुचित मार्ग-दर्शन कर सकता है।

हरियाणा के सभी सन्त-कवियों ने अपनी साधना-पद्धत्ति में ज्ञान, योग, वैराग्य आदि

---

1. दृष्टव्य, वही, पृ० 1

से भक्ति को अधिक महत्व दिया है। वे भक्ति के बिना तप, व्रत, तीर्थ, पूजा, योग, धन-धाम, सम्पत्ति, बुद्धि-बल आदि को व्यर्थ मानते हैं, भक्ति से ही माया, अहंकार, भ्रम, विषय-वासनाओं, लोभ, तृष्णा आदि का नाश होता है। जैसा कि गरीबदास ने कहा भी है—

गरीब बिना भक्ति क्या होत है, भावें काशी करबत लेहु।
मिटे नहीं मन बासना बहु बिध भ्रम सन्देहु।

गुरुमतावलम्बी भाई सन्तोखसिंह का कथन है कि ज्ञान, वैराग्य योग, कर्म ये चारों हरिमन्दिर के चार द्वारों के समान हैं, जिससे हरिमन्दिर के भीतर प्रवेश तो किया जा सकता है किन्तु भीतर जाने पर भी हरि-प्राप्ति तो हरि-नाम स्मरण करने से ही होगी। उनके अनुसार अन्य सभी साधना-मार्गों की सार्थकता भक्ति से ही है। ये सभी पुरुष रूप हैं, अतः माया इन्हें मोह सकती है, किन्तु भक्ति पतिव्रता नारी स्वरूपा है। अतः माया इसे मोह नहीं सकती, क्योंकि नारी नारी द्वारा मोहित नहीं होती।

यद्यपि इन कवियों में दास्य भाव की भक्ति के भी दर्शन होते हैं, लेकिन वे प्रेमा भक्ति को ही मुख्य मानते हैं। हरिदास का कथन है कि प्रेमा-भक्ति के सम्मुख और सभी धर्म-साधनाएँ हीन हैं—

प्रेम भक्ति में बह गई और भक्ति बरबाद।
तप, तीर्थ, व्रत, हरिदास किसके आये याद।

व्रत, नेम, जपतप करे जो सिद्ध द्रवेश।
नितानन्द एक प्रेम बिन दुरलभ हर का देश। (नितानन्द)

निःसन्देह, प्रेमाभक्ति में प्रेम की तीव्रता भक्ति के अन्य रूपों से अधिक होती है। इसीलिए हरिदास कहते हैं कि प्रेमाभक्ति की रीति ही विलक्षण है। गोपियाँ बेचने तो दही गई थी, लेकिन पुकार लगाती हैं कानह की।

ये कवि अपने प्रियतम प्रभु से मिलने के लिए एक सती स्त्री के समान ऐसे दृढ़ एवं एकनिष्ठ प्रेम को महत्व देते हैं, जिसमें पूर्ण समर्पण का भाव निहित होता है। इनका एक ही साहब है और वे इसी के प्रेम में तल्लीन हैं। उसे मिलने के लिए वे सभी संकट सहने को तैयार हैं। काम क्रोध को जीतने वाला यह प्रेम शौर्य के समान है। ऐसी हरि-भक्ति तलवार पर चलने के समान है।[1] इनका यह प्रियतम सर्वत्र व्याप्त है, इसके लिए उसे पत्र भी लिखें तो कैसे प्रियतम दूर हो तभी तो पत्र लिखा जा सकता है।

प्रीतम को पतिया लिखों जो प्रीतम ह्वै दूर।
नजर न आवै हरिदास सकल रह्यो भरपूर।

---

1. भक्ति करे कोई सूरमा। मोह लोभ को त्याग।
काम क्रोध तज हरि भजे। जिनके ऊंचे भाग॥ (रामरूप)

इतना निकट होते हुए भी उससे मिलन नहीं हो पाता, इसीलिए जीव उसके विरह में व्याकुल रहता है। नितानन्द ने अपनी इस विरहानुभूति को इस प्रकार व्यक्त किया है—

"पिया तुम्हारे दर्शन की प्यास हो।
पैडां अभी पंथ निहारां कब मिल हो बनवासी हो।

सूफी कवियों—जायसी, मंझन आदि की भाँति इन कवियों ने भी विरहानुभूति को अत्यधिक महत्व दिया है क्योंकि इसके बिना परमानन्द की प्राप्ति सम्भव ही नहीं है—

"विरह बुरा न जानिये, विरह बड़ाई जोग।
बिना विरह कहां पाइये, अमी महारस भोग।

नितानन्द ने एक स्थान पर प्रभु-मिलने के सुख का भी बहुत ही मार्मिक वर्णन किया है—

"जिस बन में प्रीतम मिले, धन्य-धन्य बन सोय
जाल करील सुहावने, रहे कल्पतरू होय।"

दास्य भाव की भक्ति के भी अनेक उदाहरण इन कवियों की वाणी में मिलते हैं, जिनमें उन्होंने अपने इष्टदेव को दयासिन्धु, दाता, स्वामी, आश्रयदाता तथा स्वयं को याचक, दास, कृपाकांक्षी, उनके चरण कमलों का सहारा माँगने वाला कहा है और अपने दैन्य एवं समर्पण का भाव प्रकट किया है। नितानन्द की वाणी से दो पद उद्धृत हैं—

तुम दाता हम मंगता दया सिन्धु दातार।
भक्ति भीख निज दास को, दीजै बारंबार।
चरण कमल के आसरे, और नहीं आधार।
नितानन्द भवसिन्धु से पकड़ उतारो पार।

भाई सन्तोखसिंह ने प्रभु स्वामी के सम्मुख अपने दैन्य एवं विनय-भावना को इस प्रकार प्रकट किया है—

तो सो नहीं दाता कोई, मो सो न भिखारी दीन।
तो सो न दयालु दुःखी मो सो ने अलाइये।

सन्तों ने अपनी भक्ति में सर्वाधिक महत्व नाम-स्मरण को दिया है। गरीबदास के अनुसार "नाम स्मरण सार वस्तु है, यही मूल मन्त्र है, जप, तप, संयम, ज्ञान आदि नाम-स्मरण के बिना फीके हैं। नाम ही शिरोमणि सार है। नाम शून्य सरोवर में स्नान करवाने में समर्थ है।" राधास्वामी ताराचन्द का कथन है कि नाम की महिमा अपरम्पार है। परमानन्दी पंथ की मान्यता है कि सतिनाम ही आनन्द स्वरूप और सर्वोपरि है।

---

1. दृष्टव्य—वही

रामरूप का मत है कि हरिनाम जहाज के समान भवसागर से पार करने वाला है। हरिदास भी यही मानते हैं कि तीनों लोगों को शोधकर 'सुमिरन' रूपी सार तत्व निकाला गया है, नाम-स्मरण से सभी अपराध नष्ट हो जाते हैं। भाई संतोखसिंह ने नाम-स्मरण का विस्तार से वर्णन किया है तथा ज्ञान, कर्म, योग की सार्थकता भी नाम-स्मरण से ही स्वीकार की है। इनके अनुसार महामन्त्र सतिनाम तीनों पापों का नाशक है। नाम एक अंक के समान है, जिसको शून्य के पहले लगाने से शून्य का मूल्य बढ़ जाता है। सन्त नितानन्द ने यह भी स्पष्ट किया है कि रोम-रोम से हरि का स्मरण करना चाहिए—

रोम-रोम हरहर कहे, ऐसा भजन अपार।
नितानन्द भज सूरत से, बिन मुख शब्द उचार।

यही सन्तों का अजपा जाप था। 'नाम-स्मरण' के साथ-साथ इन सन्तों ने 'सन्तसंगति' का महत्व भी स्वीकार किया है। इनके अनुसार सन्तसंगति भवसागर से पार करती है एवं मुक्ति का मार्ग है। सन्तसंगति सुखदायक है एवं भक्ति तथा ज्ञान का मार्ग प्रशस्त करती है। नितानन्द के अनुसार सतसंग भवसागर की नाव है। इसके अतिरिक्त मुक्ति का अन्य कोई भी मार्ग करोड़ों उपाय करने पर भी नहीं है। गरीबदास का कथन है कि सत्संग से युगों से बिछुड़े हंस अपने वंश में जा मिलते हैं। भाई सन्तोखसिंह ने भी 'सत्संगति एवं सन्त-सेवा की महिमा का प्रतिपादन विस्तार से किया है। वे शम, दम, योग, यज्ञ-जप आदि को 'सत्संगति' के बिना विफल मानते हैं और सन्त-सेवा को रिद्धि-सिद्धि एवं मुक्तिदायक एवं महाफलदायक मानते हैं। सन्त नितानन्द ने कुसंगति से सचेत करते हुए कहा है कि कुसंगत में रहने से कुशलता असम्भव है, वहाँ प्रभु-प्रेम उपलब्ध नहीं होता, इसीलिये जीवन आवागमन के चक्र में पड़ा रहता है।

हरियाणा में नाथमत का भी पर्याप्त प्रभाव रहा है। नाथमत की योगसाधना के प्रमुख केन्द्र के रूप में रोहतक के निकट असथल बोहर का मठ बहुत प्रसिद्ध रहा है। यही कारण है कि इस क्षेत्र के सन्त कवियों की वाणी में योग-साधना के अनेक तत्त्वों का समावेश हो गया है।

इन सन्तों में विशेष रूप से गरीबदास, जैतराम, नितानन्द, रामसिंह, अरमान, हरदेदास, हरिदास, रामरूप, शीतलदास आदि की वाणी में सुरति-शब्द-साधना का महत्व निर्दिष्ट है। सुरति को जगाने से शून्य महल में प्रवेश करने तथा अनेक सूर्य चन्द्रमाओं से दैदीप्यमाण प्रकाशमय लोक की प्राप्ति आदि का भी इन्होंने उल्लेख किया है। यही उनका अगम अद्भुत निर्वाणपद है। इन कवियों में सहसदल कमल के विकसित होने, गगन मण्डल में अनहद नाद सुनने का विवरण भी मिलता है। किसी-किसी कवि ने हठयोग की साधनाओं के द्वारा संयम, प्राणायाम, मुद्राओं की साधना पर भी बल दिया है। इस प्रकार की योग-साधना का विवरण कुछ ही सन्तों की वाणी में मिलता है, अन्यथा ये विषय वासनाओं को त्यागकर, मन को वश में करके, ध्यान लगाने से पाँचों शत्रुओं को वश में करने को ही वास्तविक योग-साधना मानते हैं और 'सहज-साधना' को अधिक महत्व देते हैं। राधास्वामी मतावलम्बी रामसिंह अरमान ने इस सहज-साधना के स्वरूप,

महत्व एवं उपलब्धियों का वर्णन इस प्रकार दिया है—

सहज ही धुन होता है, सहजे ही आनन्द।
सहजे ही आनन्द सहज में योग कमावै।
सहज अजपा नाम। सहज में सुरत चढ़ावै।
सहज निरखे रूप। सहज ही आनन्द भावै।
सहजे ही मन वस करै। सहज मुक्त हो जावै।

विषय-वासनाओं में लिप्तता का इन सभी सन्तों ने निषेध किया है, क्योंकि भोगों से जन्म-मरण का रोग लगा रहता है। विषय-वासना के मुख्य अंग हैं—कनक-कामिनी। इसलिए इन्होंने इसकी आसक्ति की भर्त्सना की है। इनके अनुसार ये माया के दूत हैं और हरि-भक्ति में बाधक हैं। नितानन्द, गरीबदास, निश्चलदास आदि न विषय-वासनाओं की प्रेरक 'कामिनी' नारी की भर्त्सना करते हुए उसे विषभरी नागिन, काली नागिन, नरक की नदी, नरक का द्वार अथवा नरक का कुण्ड, बाघनी, सिंहनी, विषभरी फौलाद की छुरी जहर-नली, चुडैल, चौरासी (आवागमन) का द्वार, मोक्ष बिगाड़ने वाली आदि से सम्बोधित किया है।[1] जबकि पतिव्रता नारी की उन्होंने सर्वत्र प्रशंसा की है और उसे एकनिष्ठ प्रभु-प्रेमी भक्त का प्रतीक माना है।

सामान्यतः, ये सभी सन्त कवि निर्गुणीवादी हैं, फिर भी इनमें से अनेक सन्तों पर वैष्णवमत की सगुण भक्ति-धारा का भी पर्याप्त प्रभाव लक्षित होता है। नितानन्द, जैतराम, चतुरदास, रामसिंह, अरमान, गुसाई, जुगलानन्द, निरंजनी, आसादास, भाई सन्तोखसिंह आदि कवियों में सगुण धारा के तत्व अधिक उपलब्ध हैं। इन कवियों ने 'श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता' आदि के प्रसंगों के अनुवाद भी किये तथा इन पर आधारित काव्य भी लिखें। राम, राधा-कृष्ण आदि अवतारों की लीलाओं का वर्णन किया और शिव, विष्णु, राम, कृष्ण, गणेश आदि की महिमा का गुणगान भी किया।

सन्त चतुरदास ने 'भगवत एकादश स्कन्ध' की भाषा-टीका की, ज्ञानानन्द निरंजनी ने 'नृसिंह चरित' की रचना की, रामरूप ने शुकदेव जन्म लीला तथा 'प्रतिपदा महत्व की रचना की, जुगतानन्द ने "महाभारत इतिहास सार समुचे मायाग्रन्थ लिखा और कृष्ण के सरस रूप माधुर्य का वर्णन किया। आसादास ने 'गीता' का अनुवाद किया और कृष्ण का गुणगान किया। रामसिंह अरमान के अनुसार 'राधा सुरत तथा श्याम शब्द रूप है, राधा जीवात्मा है और श्याम सतकरतार।" हरिदास ने भी गोपियों की प्रेम भक्ति का वर्णन किया है। नितानन्द ने भी कृष्ण की मधुर-मूरति के प्रति अपनी भक्ति भावना प्रकट की—

"मनमोहन की मूरति देखूं, तब ही दुख सब जारी हो।"

"कामिनी काली नागिनी, कई मुखों से खाय।
नैन बैन कुच से डसै, ऐसी बुरी बलाय। (नितानन्द)

कुछ कवियों ने तो कृष्ण के नित्यरास, महारास, वृन्दावन नित्य-बिहार आदि का भी वर्णन किया है। जैतराम ने रामकथा का भी निरूषण किया है। चरणदास के शिष्य रामरूप ने भागवत धर्म में अपनी निष्ठा तथा अपनी वैष्णव भक्ति का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार किया है—

"राधा कृष्ण उपास्य धर्म भागौत हमारो।
निज बृन्दावन धाम मुक्ति समीप निहारो।
तीरथ गंगा ज्ञान बरत ग्यारस को धारे।
क्षमा शील सन्तोष दया नित हिये विचारै।

जुगतानन्द ने भी कुछ इसी प्रकार अपनी आस्थाओं को प्रकट किया है। भाई सन्तोखसिंह की यद्यपि गुरुमत अनुसार ब्रह्म के निर्गुण रूप में ही आस्था है, तथापि उन्होंने अपने प्रबन्ध काव्यों के मंगलाचरणों में अनेक अवतारों, देवी-देवताओं की वन्दना की है। रामकृष्ण तथा अन्य अवतारों की कथाओं का वर्णन किया है और शिव, विष्णु एवं ब्रह्मा के स्वरूप का बर्णन करके उनकी स्तुति एवं गुणगान किया है।

हरियाणा से वैष्णव धर्म के प्रतिष्ठित तीर्थ स्थान कुरुक्षेत्र, पिहोवा, कलायत, कपालमोचन आदि स्थित हैं। यहीं महाभारत का युद्ध हुआ और यहीं भगवान कृष्ण द्वारा 'गीता' का अमर सन्देश प्रसारित किया गया। अतः वैष्णव भक्ति के संस्कार यहाँ की भूमि के कण-कण में व्याप्त हैं। यही कारण है कि ये सन्त कवि भी वैष्णव प्रभाव से कदाचित बच नहीं पाये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हरियाणा के सन्त कवियों ने अपने धार्मिक विचारों की विस्तार से अभिव्यक्ति की है। उनकी वाणी में रमणीयता कम और उपदेशात्मक अधिक है। गुरु नानक, कबीर, तथा रविदास जैसे सन्तों की भाँति लोक-संग्रह अथवा सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति इन सन्तों की वाणी में अधिक नहीं हुई। भाई सन्तोख-सिंह एक ऐसे कवि अवश्य हैं, जिन्होंने गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं की कथा वर्णन के माध्यम से मानवीय एकता, मानवतावाद, सामाजिक समानता, सामाजिक न्याय एवं लोक मंगल की भावना का प्रतिपादन बड़ी विशदता से किया है। अन्य सन्तों में कुछ ने जाति-पाति तथा ऊँच-नीच का विरोध अवश्य किया है। द्यौतराम का कथन है—

"ना छोटा ना बड़ा है, ना जात अजात।
ना ब्राह्मण ना बाणिया ना छत्री राजत।"

इसी प्रकार परमानन्दी पन्थ की पुस्तक 'हंस चेतावनी' में कहा गया है—

"सभी तुम्हारे भ्रात हैं, सभी तुम्हारे मीत।
सभी अंश परम पुरुष के, रखो न भेद मन चीत।"

निश्चय ही यहाँ जातिगत समानता एवं मानवीय एकता की बात अवश्य की गई है, किन्तु इसमें कबीर अथवा गुरु नानक जैसी प्रखरता एवं तीव्रता नहीं है। नितानन्द नेड़ुया का महत्व स्वीकार करके मानवतावादी दृष्टि भी प्रस्तुत की है। यथा—

"दया न उपजी जीव की, भख्या पराया मांस ।
सो नर रहसी नरक में, जब लग धरणि अकास ।"

कुछ ऐसे नये संदर्भों पर भी किसी-किसी सन्त कवि ने विचार किया है, जो हमारे व्यावहारिक जीवन से जुड़े हुए हैं। जिस प्रकार गुरु नानक, कबीर तथा रविदास ने अपनी वाणी में श्रम के महत्व का प्रतिपादन किया है, उसी प्रकार श्रम के महत्व पर प्रकाश डालते हुए सन्त ताराचन्द ने लिखा है—

"हम जोती खेती बोओ, खूब कमाओ मीत।
रैदास कबीरा कह गए, यही बड़ों की रीत।"

हरियाणा कृषि प्रधान प्रदेश है। अतः ताराचन्द ने यहाँ कृषि कार्य के महत्व का निरुपण किया है। मदिरापान से बहुत से घर बरबाद हो रहे हैं। इसीलिए शराब की भर्त्सना करते हुए ताराचन्द कहते हैं—

"शराबी का कोई धर्म ना, लौटे कुरड़ी माहं।
कुत्ता मुँह में मूतता, उसकी सोधी नांह।"

इसी प्रकार इन्होंने मांस भक्षण की निन्दा की है और निरामिष भोजन को श्रेष्ठ माना है।

सन्तकाव्य आनन्द का काव्य है, तनाव का नहीं। इन कवियों ने दुराग्रह अथवा पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर सत्य का साक्षात्कार करते हुए आदर्श, किन्तु व्यावहारिक जीवन मूल्यों की स्थापसा की। नैतिकता पर बल देते हुए सदाचार, समता, सेवा, सन्तोष, संयम का जीवन जीने का आदर्श प्रस्तुत किया और लोभ, मोह, अंहकार, तृष्णा आदि को त्यागकर दया, क्षमा, परोपकार करने का लक्ष्य निर्धारित किया।

इन कवियों की एक विशेषता यह है कि इन्होंने अधिकतर खड़ी-बोली में काव्य-रचना की है। इनकी भाषा सहज, सरल, एवं बोधगम्य है। भाषा खड़ीबोली के ही निकट है, यद्यपि उसमें हरियाणवी, ब्रज व राजस्थानी का भी मिश्रण है, कहीं-कहीं फारसी शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। भाषा में व्यंजकता, भाव-प्रवणता कम है। यद्यपि विषय के स्पष्टीकरण हेतु रूपक, उपमाओं, दृष्टान्तों, उदाहरणों आदि का प्रयोग यत्र-तत्र लक्षित होता है। लेकिन, अलंकारों की चमक-दमक से रहित, रीति की रूढ़ियों से मुक्त व्यावहारिक भाषा है। विस्वै बीस दुहाई, राम, नहीं तिलों में तेल, बुझे न प्यास ओस नीरन पीजै, लौटे कुरड़ी माँह आदि स्थानीय मुहावरों के प्रयोग से भाषा की व्यावहारिकता में अभिवृद्धि अवश्य हुई है।

इन कवियों द्वारा प्रयुक्त खड़ी बोली पद्य के कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं—

ताराचन्द्र

"जो सतगुरु का दास है, उससे डरता काल।
मनोहर मिली जो नाम की, सतगुरु होय दयाल।
शरावी का कोई धर्म ना लौटे कुरड़ी माहं।"

रामसिंह अरमान

जीवन का अरमान भारी, धन का गुमान है।
कुटुम्ब का गरूर है, भारी ही नादान है।

द्योतराम

ना छोटा ना बड़ा है, ना जात अजात।
ना ब्राह्मण ना बाणिया, ना छत्री राजात।

नितानन्द

नितानन्द घर दूर है, चढ़ो सत्य की नाव।
झूठा कोई न तिरै, भवसागर दरियाव।

इन कवियों की रचनाओं के आधार पर हमें खड़ी बोली पद्य के इतिहास पर पुनर्विचार करने के लिए विवश होना पड़ेगा। आध्यात्मिक, सामाजिक एवं अन्य विषयों पर लिखे गये खड़ी बोली पद्य के सर्वप्रथम उदाहरण सम्भवतः हमें इन्हीं कवियों की रचनाओं में मिलते हैं। इन्होंने पदों एवं साखी के अतिरिक्त अधिकतर रचना दोहा, चौपाई, सोरठा, कुंडलियाँ, सवैया, कवित्त, झूलना, अरिल्ल, आरती, बैंत आदि छन्दों में की है। जीवन-वृत्त तथा कुछ कवियों ने गुरु भक्ति प्रकाश, 'लीला सागर' 'हरिश्चन्द सतग्रन्थ', 'नृसिंह चरित' जैसे चरित काव्य भी लिखे और बारहमासों की भी रचना की है।

०००

लेखक परिचय

- गुरुमुखी लिपि में उपलब्ध हिन्दी की अमूल्य साहित्य-निधि के अग्रणी अन्वेषक/अनुसन्धाता, समीक्षक, चिन्तक, लेखक तथा मध्युगीन साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् **डा० जयभगवान गोयल** (जन्म: 30.9.1931, छछरौली—हरियाणा) के पचीस शोधात्मक ग्रन्थ पंजाब, पंजाबी, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालयों, पंजाब भाषा-विभाग, गुरु गोविन्दसिंह फाउंडेशन, हरियाणा साहित्य अकादमी आदि संस्थाओं द्वारा प्रकाशित ।
- देश की सभी प्रतिष्ठित शोध-पत्रिकाओं, विश्वकोश, आकर ग्रन्थों तथा समीक्षा-ग्रन्थों में शताधिक शोध-पत्र प्रकाशित ।
- राष्ट्रीय/अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के लगभग पचास सेमिनारों में शोधपत्र-वाचन ।
- हरियाणा सरकार, हरियाणा हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पंजाब हिन्दी अकादमी, शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी, केन्द्रीय श्री गुरु सिंह-सभा, दिल्ली गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी आदि संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत-सम्मानित ।
- अनेक साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं से सम्बद्ध ।
- **सम्पादित प्राचीन काव्य ग्रंथ** (विस्तृत भूमिकाओं सहित)—

  १. गुरुशोभा २. जंगनामा गुरु गोविन्दसिंह ३. गुरु गोविन्दसिंह का वीरकाव्य ४ संक्षिप्त गुरु प्रताप-सूरज ५. वीर अमरसिंह ६. गुरुविलास ७. गुरु नानक प्रकाश (दो भाग), गुरु प्रताप सूरज (पहला भाग) ९. संक्षिप्त गुरु प्रताप सूरज (पंजाबी) १०. हरियाणा साहित्यकार निर्देशिका ११. हरियाणा : पुरातत्त्व, संस्कृति एवं साहित्य ।

- **प्रमुख शोधात्मक ग्रन्थ**—

  १. 'गुरु प्रताप सूरज' के काव्य-पक्ष का अध्ययन
  २. गुरुमुखी लिपि में हिन्दी-साहित्य
  ३. गुरु गोविन्दसिंह : विचार और चिन्तन
  ४. वीरकवि दशमेश
  ५. मध्ययुगीन काव्य : नया मूल्यांकन
  ६. रीतिकाल का पुनर्मूल्यांकन
  ७. गुरु तेग बहादुर : चिन्तन और कला
  ८. सूफी दरवेश शेख फरीद और उनका काव्य
  ९. साहित्य-चिन्तन
  १०. महाकवि भाई संतोखसिंह और उनका काव्य
  ११. महाकवि भाई संतोखसिंह : जीवन ते रचना (पंजाबी)